संस्कृतविश्वविद्यालय-ग्रन्थमाला का 131 पुष्प

योग का महत्त्व एवं सिद्धान्त

IMPORTANCE & PRINCIPLES OF YOGA

प्रधान-सम्पादक
प्रो. मुरलीमनोहर पाठक
कुलपति

सम्पादक
प्रो. शिवशङ्कर मिश्र
शोधविभागाध्यक्ष

लेखक
डॉ. रमेश कुमार
सहायकाचार्य-योगविभाग

श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय
नई दिल्ली-110016

प्रकाशक:

श्रीलालबहादुरशास्त्रीराष्ट्रियसंस्कृतविश्वविद्यालयः

बी–4, कुतुबसांस्थानिकक्षेत्रम्, नवदेहली–110016

© प्रकाशकाधीनः

प्रकाशनवर्षम् : 2023

ISBN : 978-81-966663-0-9

मूल्यम् : ₹ 330.00

मुद्रक:

डी.वी. प्रिन्टर्स

97–यू.बी., जवाहरनगरम्, देहली–110007

।।ओ३म्।।

दूरभाष : ०११-२६५२५६६३
ईमेल :-smdnyas99@gmail.com

श्रीमद्दयानन्द-वेदार्ष-महाविद्यालय-न्यास

११९, गौतमनगर, नई दिल्ली-११००४९

[संस्थापित श्रावण पूर्णिमा, संवत् १९९१ तदनुसार २४ अगस्त १९३४] [पंजीकरण संख्या १९५१ सन् १९९९]

क्रमाङ्क : 2K021-4092 (2021-2022)

दिनाङ्क : 16/03/2022

आशीर्वचन

'योग सिद्धान्त' इहलौकिक युक्त-जीवन का उपाय है तथा जीवनोत्तर मुक्त-जीवन 'योग महत्त्व' का शाश्वत प्रसाद है। युक्त एवं मुक्त जीवन की आचार-तपश्चर्या **'योग का महत्त्व एवं सिद्धान्त'** नामक सुकृति को अपनी सुधि लेखनी से आकार प्रदान करने वाले कर्मठ कर्मयोगी प्रियवर डॉ. रमेश कुमार जी (सहायक प्रोफेसर, योग विज्ञान विभाग) निज कर्मशीलता से योग के क्षेत्र में नित नवीन आयामों को अलंकृत कर रहे हैं।

गुरुकुल गौतमनगर की पुण्य तपोभूमि इसी भांति यशस्वी एवं योगनिष्णात युवाओं की प्रसवभूमि बनी रहे, ईश्वर से इस प्रार्थना के साथ मैं आपको हृदयाशीष का प्रसाद प्रदान करता हूँ। डॉ. रमेश कुमार जी योगी 'विश्वयोग चैम्पियन' कृत योगविज्ञान की प्रतिपादक कृति **"योग का महत्त्व एवं सिद्धान्त"** को देखकर मेरा ऐसा अभिमत है कि आपका सहज, स्फूर्त एवं गहन योगबोध निश्चित ही अध्येताओं को ज्ञानसम्पन्नतायुक्त विस्मय प्रदान करेगा।

आपका यह अनुपम रचना कार्य नवयोग प्रशिक्षुओं के साथ-साथ प्रबुद्ध योग पिपासुओं की क्षुधा-तृप्ति का अद्भुत योग-सोम होगा; मैं ऐसी अभिलाषा रखता हूँ। प्रमुखतया विश्वविद्यालयीय योग पाठ्यक्रम के लिए यह अनुपम ग्रन्थ अवश्य ही योगार्थियों में योगविद्या के प्रति नवीन दृष्टि, बोध एवं कौशल-दक्षता का विकास करेगा; मैं ऐसा देख पा रहा हूँ।

योग-प्रशिक्षण, लेखन तथा अनुसंधान में आपका योगपुरुषार्थ इसी भांति चरितार्थ होता रहे, एतदर्थ मैं अनेकानेक आशीर्वाद के साथ आपके समुन्नत, समुज्ज्वल, सदुपयोगी और सुयोगकारी भविष्य की कामना करता हूँ।

प्राचार्य

प्रणवानन्दः

स्वामी प्रणवानन्द सरस्वती

।।ओ३म्।।

तारातरा मठ

बाड़मेर, राजस्थान

मनुर्भव जनया दैव्यं जनम्

क्रमांक S8-130

दिनांक 10/02/2022

योग आधारित पुस्तक प्रकाशन हेतु संदेश एवं विचार

यह जानकर अत्यंत हर्ष हुआ कि प्रिय डॉ. रमेश कुमार (विश्व योग चैंपियन) सहायक प्रोफेसर, योग विज्ञान-विभाग के अथक एवं सतत प्रयासों के परिणामस्वरूप "योग का महत्त्व एवं सिद्धान्त" नामक अद्वितीय पुस्तक की रचना की गई है। हमारा देश ऋषियों, महर्षियों और योगियों की जन्म व कर्म भूमि रहा हैं। आज इस बात की अत्यन्त आवश्यकता है कि हम उनके वैभवशाली इतिहास को समूचे विश्व के सामने प्रस्तुत करें; ताकि हम अपने इस गौरवशाली अतीत पर गर्व करते हुए वर्तमान समय में उनके द्वारा प्रदत्त अमूल्य योग के ज्ञान को आत्मसातकर जन कल्याण का कार्य कर सकें।

आपकी महत्वपूर्ण रचना "योग का महत्त्व एवं सिद्धान्त" में आपने योग की परम्पराओं, विभिन्न पद्धतियों, योग के लिए उपयुक्त स्थान, समय, आहार के साथ-साथ महर्षि पतंजलि के अनुसार चित्त के स्वरूप, चित्तवृत्तियों और चित्तभूमियों और ईश्वर के विषय में विस्तृत वर्णन किया है।

इन योगकार्यों के साथ-साथ गौरक्षा और गौसेवार्थ कार्यों में भी आप अग्रणी रहेंगे।

यह पुस्तक छात्रों के लिए बहुत ही उपयोगी होगी। इस नूतन रचना के लिए आपको अनन्त शुभकामनाएँ। ईश्वर, गौमाता, गुरु महाराज आपको सुखी, आनंदित और निरोगी रखे और नित्य प्रतिदिन प्रगति के पथ पर आगे बढ़ावें।

साधुवाद एवं शुभाशीष।

प्रतापपुरी

(महंत 1008 प्रतापपुरी)

श्री तारातरा मठ, बाड़मेर (राज.)

महन्त श्री 1008 प्रतापपुरी जी महाराज,
मठाधीश, तारातरामठ, बाड़मेर (राजस्थान) सम्पर्क - 9414106528
Website : www.taratramath.com | E-mail : taratramath@gmail.com

ओ३म्
पतंजलि योगपीठ (ट्रस्ट)
Patanjali Yogpeeth (Trust)

क्रमांक
S.No. : ....

दिनांक
Dated : 03.05.2023.....

शुभकामना संदेश

योग मात्र एक शारीरिक व्यायाम नहीं अपितु एक सम्पूर्ण चिकित्सा विज्ञान है, एक जीवन दर्शन है, एक सम्पूर्ण आध्यात्मिक विद्या है। योग एक गंभीर दार्शनिक चिन्तन तथा एक सहज सरल संतुलित जीवन शैली है। योग आत्म दर्शन कर विश्वात्मा को स्व में आत्मसात् करने की विवेक की पराकाष्ठा व ऋतम्भरा प्रज्ञा की प्राप्ति का मार्ग है। **योगश्चित्त वृत्तिनिरोधः** मन से पार चेतना के अज्ञात क्षेत्र में प्रवेश कर असीम आनन्द व अवर्णनीय अलौकिक सुख तथा अनिर्वचनीय शान्ति प्राप्ति की शाश्वत ऋषि परम्परा योग है।

हमारे पूर्वज ऋषि-मुनि ने अष्टांग योग के आठ साधन बताए हैं- यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान एवं समाधि जो शरीर और मन को नियंत्रित करते हैं। योग केवल मान्यताओं की ही प्रणाली नहीं है अपितु यह शरीर और मन के एक दूसरे पर प्रभाव को व्यवस्थित रखता है।

अत्यंत प्रसन्नता का विषय है कि श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय, नई दिल्ली के विज्ञान विभाग में सहायक आचार्य डॉ. रमेश कुमार द्वारा योग विषयक पुस्तक **'योग का महत्त्व एवं सिद्धांत'** का प्रकाशन किया जा रहा है। इस पुस्तक में लेखक द्वारा योग के सैद्धांतिक, व्यवहारिक पक्ष के साथ-साथ इसके वैज्ञानिक पक्ष को भी पाठकों के समझ रखने का प्रयास किया गया है।

डॉ. रमेश कुमार को उनकी नवीन पुस्तक **'योग का महत्त्व एवं सिद्धांत'** के सफल प्रकाशन हेतु मेरी हार्दिक शुभकामनाएँ।

(आचार्य बालकृष्ण)
महामंत्री

सम्पर्क कार्यालय : महर्षि दयानन्द ग्राम, दिल्ली-हरिद्वार राष्ट्रीय राजमार्ग, निकट बहादराबाद, हरिद्वार-249405, उत्तराखण्ड (भारत)
Admin Office : Maharishi Dayanand Gram, Delhi-Haridwar National Highway, Near Bahadrabad, Haridwar-249405, Uttarakhand, India
Tel. : 01334-240008, 244107, 248888 Fax : 01334-244805, 240664 E-mail : divyayoga@divyayoga.com Web : www.divyayoga.com

शुभकामना सन्देश

यह जानकर अत्यन्त प्रसन्नता हुई कि श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय के प्रकाशन विभाग द्वारा **"योग का महत्त्व एवं सिद्धान्त"** नामक पाठ्य-पुस्तक का प्रकाशन किया जा रहा है। हमारा देश ऋषियों, महर्षियों और योगियों के जप, तप एवं ज्ञानोपदेश से ओत-प्रोत है। आज इस बात की अत्यन्त आवश्यकता है कि हम उनके विशिष्ट योगदान को सम्पूर्ण विश्व के सामने प्रस्तुत करें और भारतवर्ष के गौरवशाली अतीत पर गर्व करते हुए उनके द्वारा प्रदत्त अमूल्य योग के ज्ञान को प्रसारित कर जनकल्याण का कार्य कर सकें।

प्रस्तुत पुस्तक में योग का अर्थ एवं उसकी परिभाषा, योग की परम्पराएँ, योग का इतिहास, योग के लिए उपयुक्त स्थान, काल, वेशभूषा, आहार के साथ-साथ अनेक योगियों का जीवन परिचय, महर्षि पतंजलि के अनुसार चित्त के स्वरूप, चित्तवृत्तियों और चित्तभूमियों और ईश्वर के विषय में विस्तृत वर्णन है। यह पुस्तक **विश्व-योग-चैंपियन** डॉ. रमेश कुमार, सहायक प्रोफेसर, योग-विज्ञान-विभाग के अथक एवं सतत प्रयासों के परिणाम का मधुर फल है। **"योग का महत्त्व एवं सिद्धान्त"** नामक यह अद्वितीय पुस्तक छात्रों के लिए अत्यन्त उपयोगी है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि यह पुस्तक योग-जिज्ञासुओं की पिपासा को शान्त करने के साथ-साथ साधारण जन-मानस को भी योग के प्रति आकर्षित करने का काम करेगी। इस नूतन रचना के लिए मैं डॉ. रमेश कुमार को अनन्त शुभकामनाएँ देता हूँ। मेरी ईश्वर से प्रार्थना है कि वे ग्रन्थकार को उत्तम स्वास्थ्य व दीर्घायु प्रदान करें।

-प्रो. मुरलीमनोहर पाठक

कुलपति, श्री ला.ब.शा.रा.सं.वि.वि.,

कटवारिया सराय, नवदेहली-110016

सम्पादकीय....

- **योगः कर्मसु कौशलम्; समत्वं योग उच्यते,**
- **योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः; योगो भवति दुःखहा,**
- **योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय,**
- **संयोगं योगमित्याहुर्जीवात्मपरमात्मनोः,**
- **तं विद्यात् दुःखसंयोगं वियोगं योगसंज्ञितम्।**

इत्यादि शास्त्रीयवचन पुञ्ज योग की महत्ता का प्रतिपद प्रतिपादन करते हैं। योग का अर्थ संयमन, समाधि और संयोग है। अर्थात् चित्तसंयम, अर्थमात्रनिर्भास स्वरूपशून्यत्व एवं आत्म-परमात्मसंयोग ही योग है।

विश्वमानवता को पदत्त 'योग' भारत का अद्भुत विज्ञान है। यह परम्परा अत्यन्त प्राचीन है, भगवान् विष्णु से प्रारम्भ हुई है, जिसका वर्णन गीता में भगवान् ने इस प्रकार किया है-

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान् मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्।।

(गीता.-4-1)

इस योगविद्या के साक्षात्कर्ता भारतीय योगियों के अनगिनत संस्मरण हैं। योगबल के प्रभाव से शरीर शुद्धि और समाधिसिद्धि के क्रम में योगियों का सर्वत्र निर्बाधगमन, जल-नभ विचरण, काय परिवर्तन, परकायाप्रवेश, अलभ्य भोगों का लाभ, अतीन्द्रिय पदार्थों का दर्शन अत्यन्त सुप्रसिद्ध है। आज भी भारतीय तीर्थों, गिरि-कन्दराओं, हिमालयादि पर्वत श्रृंखलाओं में योगियों की चमत्कारिक चर्चाएँ श्रवणगोचर होती रहती हैं।

योग की महिमा अपरिमित है, भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को सम्बोधित करते हुए कहा–हे अर्जुन! तुम योगी बनो, क्योंकि योगी की स्थिति सर्वश्रेष्ठ है–

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन॥

परमात्मा ने सृष्टि के अनन्त जीवों को उनके प्रारब्ध के अनुसार सुख–दुःख भोगने के लिये शरीर प्रदान किया है। इस समस्त चराचर संसार की रचनाओं में भगवान् की सर्वश्रेष्ठ रचना मनुष्य है, क्योंकि अन्य सभी के शरीर केवल भोग हेतु प्राप्त होते हैं (भोगायतनं शरीरम्) जबकि मनुष्य का शरीर श्रेष्ठकर्म कर मुक्त होने के लिए प्राप्त हुआ है, इसीलिए मनुष्य रचना की शास्त्रों में भूरिशः प्रशंसा की गयी है–

दुर्लभं त्रयमेवैतत् देवानुग्रहहेतुकम्।
मनुष्यत्वं मुमुक्षुत्वं महापुरुषसंश्रयः॥

मनुष्य के इस पाञ्चभौतिक शरीर को सेवा, परोपकार तथा भगवच्चिन्तन के लिए स्वस्थ रखना अत्यन्त अनिवार्य है, क्योंकि स्वस्थ शरीर ही सभी धर्मों का सर्वश्रेष्ठ साधन है–

शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्।

शरीर की पूर्णस्वस्थता का एक महत्त्वपूर्ण साधन योग है, क्योंकि योग चित्त की एकाग्रता है और चित्त की एकाग्रता ही सुख शान्ति और आनन्द का मूल है। चित्त की चञ्चलता (तनाव) समस्त व्याधियों का कारण है। यदि चित्त शान्त होगा तो हमारी शारीरिक–मानसिक एवं आध्यात्मिक स्थिति अत्यन्त अनुकूल एवं कल्याणमय होगी।

अतः मनुष्य को अभ्युदय एवं निःश्रेयस के लिए अपने आचरण में योग का समावेश करना चाहिए। योग रोगोन्मूलन के साथ–साथ रोगानुत्पाद की सर्वश्रेष्ठ विद्या है। यह अत्यन्त प्रासंगिक सहज एवं सर्वसाध्य है।

विश्वविद्यालय के योगविभाग के विद्वान् डॉ० रमेश कुमार द्वारा पाठ्यक्रम से सम्बन्धित विलिखित ग्रन्थ 'भारतीय वाङ्मय में योग परम्परा' में योग के आधारभूत तत्त्वों का विधिवत् समावेशन किया गया है। यह अत्यन्त सरल एवं सहज भाषा में लिखा गया है, अतः इसके अवबोधन में छात्रों को क्लेशानुभूति नहीं होगी। मा० कुलपति महोदय द्वारा लिखित "प्ररोचना" से सम्वलित तथा अन्य कतिपय विद्वान् महापुरुषों की शुभाशंसा से समन्वित प्रकृत ग्रन्थ योग विद्या के जिज्ञासु छात्र छात्राओं तथा योगशास्त्र के स्वतन्त्र पाठकों के समक्ष सादर प्रस्तुत है।

प्रो० शिवशंकर मिश्र

शोध विभागाध्यक्ष

भूमिका

योग की परम्परा भारतीय संस्कृति के विकास के साथ ही विकसित होती आयी है। इसके उद्भव एवं विकास के चिह्न भारतीय समाज के अध्येताओं को यत्र-तत्र परिलक्षित होते हैं। वैदिक संहिताओं से लेकर सिन्धुघाटी सभ्यता के शिलालेख समय के समानान्तर अनवरत प्रवाहमान योग की सरिता के साक्षी रहे हैं। भारत का विस्तृत और समृद्ध वाङ्मय योग के विभिन्न सम्प्रदायों के विकास के साथ और भी समृद्ध हुआ है। वैदिक साहित्य के बाद दार्शनिक साहित्य के आरम्भ से लेकर आधुनिक काल पर्यन्त भी योगशास्त्र का विकास एक व्यापक दार्शनिक पृष्ठभूमि लिए हुए है; जो दार्शनिक जगत् की प्रायः सभी प्रकार की समस्याओं का एक सन्तुलित समाधान प्रस्तुत करता है। दार्शनिक चिन्तन में भी योग के सिद्धान्तों को पर्याप्त आदर एवं स्वीकृति मिली और भगवद्गीता सहित सभी महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों में यौगिक सिद्धान्तों का पोषण और विस्तार किया गया। प्रस्तुत ग्रन्थ में योग के विकास की इस परम्परा का विवरणात्मक चित्र खींचने का एक प्रयास किया गया है। साथ ही समसामयिक परिप्रेक्ष्य में योग के विकास की दिशाओं का आकलन करते हुए इस क्षेत्र में वर्तमान एवं भविष्य की संभावनाओं को भी चिह्नित किया गया है, जो योग के स्नातक एवं स्नातकोत्तर पाठ्यक्रमों के अध्येताओं तथा अन्य अध्येताओं के लिए समान रूप से उपयोगी हो।

इस ग्रन्थ के प्रथम अध्याय में योग के विकास का परिचय तथा इसके अंगों की अवधारणा का ससन्दर्भ परिचय दिया गया है। इनमें मुख्यतः वेद, उपनिषद्, योगवशिष्ठ, भगवद्गीता, आयुर्वेद आदि का समावेश है। द्वितीय अध्याय में योगाभ्यास के लिए उपयोगी नियमों का संकलन किया गया है। ये नियम योग के प्रायः सभी प्रमुख ग्रन्थों को

आधार मानकर लिए गए हैं। इसमें योगाभ्यासी के लिए उपयोगी आचार एवं व्यवहार का विवरण भी दिया गया है; जिससे यह अध्येताओं के लिए अधिक उपयोगी हो सके। तृतीय अध्याय में योग के क्षेत्र में विकसित विभिन्न महत्त्वपूर्ण योग-पद्धतियों का परिचय दिया गया है। इनमें राजयोग, हठयोग, भक्तियोग, क्रियायोग एवं संन्यासयोग आदि का साङ्गोपाङ्ग विवेचन किया गया है। चतुर्थ अध्याय में पातञ्जल योग के सिद्धान्तों एवं अवधारणाओं का व्यापक विश्लेषण सरल भाषा में किया गया है। प्रायः सभी सिद्धान्तों के निरूपण में सन्दर्भ को व्याख्या सहित प्रस्तुत किया गया है। पंचम अध्याय में आधुनिक काल में योग के क्षेत्र में व्यापक कार्य करके इसे समृद्ध करने वाले योगियों और उनके कार्यों का संक्षिप्त परिचय दिया गया है; जिनके नाम हैं– महर्षि पतंजलि, आदिगुरु शंकराचार्य, गुरु गोरखनाथ, श्री अरविंद, स्वामी विवेकानन्द, स्वामी कुवलयानन्द।

अध्येताओं के उपयोग को ध्यान में रखते हुए मैंने अपने सीमित ज्ञान एवं समझ के आधार पर योग के सिद्धान्तों का संकलन एवं व्याख्या करने का प्रयास किया है; जिसे पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करते हुए मुझे बहुत हर्ष की अनुभूति हो रही है। इस अवसर पर उन अगणित ग्रन्थकारों का मैं ऋणी हूँ; जिनके मौलिक प्रणयनों का मैनें अपने ग्रन्थ के कलेवर में समावेश किया है। यद्यपि मैंने सावधानी एवं परिश्रम से इसे लिखा है, किन्तु मानवीय प्रमाद या किन्हीं अन्य कारणों से ग्रन्थ में त्रुटियों की संभावना बनी रहती है। विद्वान् पाठक यदि इनकी ओर ध्यान दिलाते हैं, तो आगामी संस्करणों में इनका संशोधन अवश्य किया जाएगा।

-लेखक

।। ओ३म् सच्चिदानन्देश्वराय नमो नमः।।

आभार

ओ३म् एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा
एकं रूपं बहुधा यः करोति।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां
सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्।।

(कठोपनिषद् 2/2/12)

अध्यापन के क्षेत्र में शोध का बहुत बड़ा योगदान होता है। शोध में प्रवृत्त व्यक्ति ज्ञानसागर की गहराइयों में पहुँचकर अनेक नवीन विचारों का सृजन करता है, वही उसकी मौलिकता होती है। इस कार्य को वह अकेला संपन्न नहीं कर सकता है। उसकी इस यात्रा में गुरुजनों का आशीर्वाद, श्रेष्ठ जनों का मार्गदर्शन, मित्रों की शुभकामनाएँ एवं घर-परिवार के सदस्यों का सहयोग ही सर्वतोभावेन सहायक होता है। प्रस्तुत ग्रंथ के लेखन से लेकर प्रकाशन तक की इस यात्रा में मुझे भी ऐसा सुखद अनुभव प्राप्त हुआ।

मैं प्रातःस्मरणीय पूज्या माता श्रीमती चमेली देवी व पूज्य पिता श्री लाला राम को कोटि-कोटि नमन करता हूँ; जिनकी कृपा से मुझे योग व आध्यात्मिक विषयों को पढ़ने के लिए वैदिक संस्कृति के योगमय वातावरण से समृद्ध आर्ष गुरुकुल महाविद्यालय, (झज्जर, हरियाणा) एवं श्रीमद्दयानंद वेदार्ष महाविद्यालय गुरुकुल (गौतम नगर, नई दिल्ली) में अध्ययन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। मैं अपनी धर्मपत्नी सुचित्रा यादव और पुत्र सोऽहम् यादव का धन्यवाद करता हूँ; जिन्होंने अपना प्रेम व अमूल्य समय देकर इस महत्त्वपूर्ण कार्य को संपन्न करने में मेरा सहयोग दिया।

चिंतन-मनन के उपरांत जो विचार बनते हैं, उनका समुचित प्रकाशन आवश्यक होता है। तभी वह इस क्षेत्र में कार्य कर रहे छात्रों एवं उपदेशकों के लिए उपयोगी होते हैं। एतदर्थ मैं श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय के यशस्वी कुलपति प्रो. मुरलीमनोहर पाठक जी के प्रति

अपनी हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ; जिन्होंने विश्वविद्यालय के चहुँमुखी विकास की योजनाओं में शोध एवं प्रकाशन को भी महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है।

वे लोग बड़े सौभाग्यशाली होते हैं जिन्हें जीवन में शोध करने का अवसर प्राप्त होता है। मेरे जीवन में यह सुअवसर जिन महान् आत्मा के कारण प्राप्त हुआ है, वे हैं– पूर्व कुलपति प्रो. रमेश कुमार पाण्डेय जी (श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय, नई दिल्ली)। उनके सतत दिशा-निर्देशन, कुशल नेतृत्व और मार्गदर्शन में योग-ज्ञान के सिद्धांतों को समझने का शुभ अवसर प्राप्त हुआ। ये सदैव मुझे निष्काम कर्म और कुशल अध्ययन-अध्यापन के लिए प्रेरित और प्रोत्साहित करते रहते हैं। इनके इस भाव को मैं सदा हृदय में धारण करता हूँ।

गुरुओं के प्रति धन्यवाद ज्ञापन की इस कड़ी में मैं अपने प्रथम योगगुरु परम श्रद्धेय योगाचार्य हरपाल शास्त्री जी को हार्दिक नमन करता हूँ। आचार्यश्री के आचरण में योग को देखकर ही मुझे योग को अपने जीवन में धारण करने की प्रेरणा प्राप्त हुई। दूसरे पूज्य महात्माओं में श्रद्धेय श्री श्री 1008 प्रताप पुरी महाराज (तारातरा मठ, बाड़मेर), स्वामी प्रणवानंद सरस्वती (गुरुकुल गौतम नगर, नई दिल्ली), डॉ. ओमप्रकाश जी महाराज (ओम योग संस्थान, पाली फरीदाबाद), आचार्य बालकृष्ण पतंजलि योगपीठ प्रो. महेश प्रसाद सिलोडी (अध्यक्ष, योग विज्ञान विभाग), अंकुर नागपाल एवं डॉ. आनंद कुमार आदि अनेक संत महात्माओं का प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से आशीर्वाद प्राप्त हुआ है। मैं सभी गुरुजनों, संतों एवं महात्माओं का हृदय से धन्यवाद करता हूँ कि उन्होंने मुझे अपनी कृपा का पात्र बनाया।

इसके सुरुचिपूर्ण प्रकाशन हेतु विश्वविद्यालय के शोध एवं प्रकाशन-विभाग के अध्यक्ष प्रो. शिवशंकर मिश्र एवं मुद्रक मैसर्स डी.वी. प्रिंटर्स, जवाहर नगर, दिल्ली-7 के अधिकारियों को अपनी कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ।

अत्यंत प्रयत्न के उपरांत भी अनेक त्रुटियों की संभावना बनी रहती है। सभी सुधी पाठकों से मेरा विनम्र अनुरोध है कि ऐसी कोई त्रुटि हो, तो उसका परिहार स्वयं करेंगे और मुझे आवश्यक निर्देशन देंगे, जिससे आगामी संस्करण में उन्हें सुधारा जा सके।

–लेखक

विषयानुक्रमणिका

प्रथम अध्याय 1–53

योग का अर्थ, परिभाषा, योग की परम्परा एवं इतिहास, योग का विभिन्न शास्त्रों में वर्णन– वेदों में योग, योग वासिष्ठ, गीता, उपनिषद्, आयुर्वेद।

द्वितीय अध्याय 54–74

योग का महत्त्व, आधुनिक समय में योग की उपयोगिता, योग के लिए उपयुक्त स्थान, काल, वेशभूषा, आहार, योग के साधक एवं बाधकतत्त्व, सप्तसाधन।

तृतीय अध्याय 75–118

योग की विभिन्न पद्धतियाँ– राजयोग, हठयोग, ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग, सन्यासयोग

चतुर्थ अध्याय 119–151

महर्षि पतंजलि के अनुसार योग की परिभाषा, चित्त का स्वरूप, चित्तभूमियाँ, वृत्तियाँ, चित्तवृत्ति निरोध के उपाय, क्रियायोग, ईश्वर का स्वरुप, अष्टांगयोग, पंचक्लेश।

पञ्चम अध्याय 152–191

योगियों का जीवन परिचय – महर्षि पतंजलि, आदिगुरु शंकराचार्य, गुरु गोरक्षनाथ, श्री अरविन्द, स्वामी विवेकानन्द, स्वामी कुवलयानन्द

परिशिष्ट 192–226

योगसूत्र–दिग्दर्शन

पातञ्जल सेश्वरसांख्यपक्ष

प्रथम अध्याय

योग

प्राचीन काल में हमारे देश के ऋषियों, महर्षियों मनीषियों ने ईश्वरप्राप्ति के अनेक साधनों की खोज की थी। उन साधनों में योग-शास्त्र एक साधन है। यौगिक साधनाओं का अभ्यास करके मनुष्य सुख, आनन्द और मोक्ष की प्राप्ति कर सकता है। योगशास्त्र स्वयं में सम्पूर्ण शास्त्र है। इसे किसी अन्य [अवलम्बन] सहायता की आवश्यकता नहीं है। जैसा कि तन्त्र मन्त्र आदि की साधनाओं में होता है। तन्त्र और मन्त्र से सम्बन्धित साधनाओं में योग की अनेक क्रियाओं (यथा-मुद्रा, आसन, प्राणायाम, ध्यान आदि) के अवलम्बन बिना सिद्धियाँ मिलना असम्भव है। अतः योगविज्ञान ही सर्वोपरि विज्ञान है।

योग का अर्थ, परिभाषा :- योग शब्द संस्कृत की युज् धातु से बना है जिसका अर्थ समाधि और मिलाना है। महर्षि पाणिनि योग शब्द की व्युत्पत्ति **युज् संयमने, युजिर् योगे** और **युज् समाधौ**[1] इन तीन धातुओं से करते हैं। **युज् संयमने** इन्द्रियों पर संयमन करना या मन पर संयम करना ही योग है। **युजिर् योगे** इसके अनुसार 'योग' शब्द का अनेक अर्थो में प्रयोग किया गया है; जैसे-जोड़ना, मिलाना, मेल आदि। इसी आधार पर जीवात्मा और परमात्मा का मिलन योग कहलाता है। **युज् समाधौ** अर्थात् इसमें योग को समाधि की अवस्था कहा गया है; अर्थात् समाधि कहा गया है, जो कि जीवात्मा और परमात्मा की समता होती है। महर्षि पतंजलि ने योग-शब्द को समाधि के अर्थ में प्रयुक्त किया है। महर्षि व्यास ने भी **योगः समाधिः** योग को समाधि का वाचक

---

1. धातुपाठ, महर्षि पाणिनि

माना है, जिसमें मन को भलीभाँति समाहित किया जाए, उसे समाधि और आत्मा-परमात्मा के मेल को योग कहते हैं। व्यासजी ने योग शब्द का अर्थ समाधि करते हुए कहा है **: स च सार्वभौमः चित्तस्य धर्मः**[1] अर्थात् समाधि चित्त की सार्वभौम अवस्था है। जैसे- घड़ा, ढ़कना, सुराही- ये मिट्टी की अवस्थाएँ हैं। भारतीय दर्शनों में योगविद्या का सर्वोपरि स्थान है। योगज्ञान का वेदों, दर्शनों, उपनिषदों, गीता एवं पुराणों आदि प्राचीन ग्रन्थों में विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है। योगसूत्र के प्रणेता महर्षि पतंजलि ने योग को परिभाषित करते हुए कहा है **: योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः**[2] अर्थात् चित्त की वृत्तियों का निरोध करना ही योग है। चित्त का तात्पर्य अन्तःकरण से है। बाह्यकरण अर्थात् ज्ञानेन्द्रियों द्वारा जब विषयों का ग्रहण किया जाता है, तब मन उस ज्ञान को आत्मा तक पहुँचाता है। आत्मा साक्षी भाव से देखता है। बुद्धि व अहंकार विषय का निश्चय करके उसमें कर्तव्य भाव लाते हैं। इस सम्पूर्ण क्रिया से चित्त में जो प्रतिबिम्ब बनता है, वही वृत्ति कहलाती है। यह चित्त का परिणाम है। चित्त दर्पण के समान है। अतः विषय उसमें आकर प्रतिबिम्बत होते हैं अर्थात् चित्त विषयाकार हो जाता है। इस चित्त को विषयाकार होने से रोकना ही योग है। योग के अर्थ को और अधिक स्पष्ट करते हुए महर्षि पतंजलि ने आगे कहा है **: तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्**[3] अर्थात् योग की स्थिति में साधक (पुरूष) की चित्तवृत्ति के निरुद्धकाल में कैवल्य अवस्था की भाँति चेतनमात्र (आत्मा/परमात्मा) स्वरूप में स्थित योग है।

योग की परम्परा एवं इतिहास

योग की दो मुख्य परम्पराएँ हैं :- **1. वैदिक योग परम्परा, 2. हठ योग परम्परा।**

---

1. व्यास भाष्य
2. योगसूत्र 1/2
3. वही 1/3

वैदिक योग परम्परा : वेद भारतीय संस्कृति एवं ज्ञानविज्ञान का मूलस्रोत है। विशेष रूप से भारतीय सभ्यता और संस्कृति के इतिहास में वेदों का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और गौरवपूर्ण है। प्राचीन काल से भारतीय समाज का वैयक्तिक जीवन, सामाजिक व्यवस्था तथा राष्ट्रीय संगठन माँ भगवती श्रुति की दृढ़ आधारशिला पर आधारित रहा है। अतः भारतीय सभ्यता-संस्कृति के सम्पूर्ण पक्षों के जानने के लिए वेदों का अध्ययन-अध्यापन एवं चिन्तन-मनन नितान्त आवश्यक है। वेदों में निहित योग का शाश्वत ज्ञान मानवमात्र के कल्याण के लिए अति महत्त्वपूर्ण है; क्योंकि मोक्ष को भोगकर आये तपस्वी ऋषियों को समाधि की उच्च स्थितियों में वेदों का ज्ञान प्राप्त हुआ है।

तेभ्यस्तप्तेभ्यस्त्रयो वेदा अजायन्ताग्नेः।
ऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेदः सूर्यात्सामवेदः।।[1]

वेद ही सब सत्य ज्ञान का भंडार है। वेद स्वतः प्रमाण है तथा सूर्य के समान अपना प्रकाश करता हुआ समस्त अन्य पदार्थों को प्रकाशित करनेवाला है। यह सत्य-विद्याओं का निधान है तथा उसी के आधार पर अन्य समस्त विद्याओं का विकास हुआ है। सृष्टि के आदि ग्रन्थ वेद ही हैं। वेद वह ईश्य ज्ञान है; जिसमें मानव जीवन के प्रत्येक पक्ष पर प्रकाश डाला गया है तथा जीवन को सुखमय बनाते हुए जीवन के चरम लक्ष्य मुक्ति के मार्ग को समझाया गया है। इस मुक्ति के मार्ग के साधन के रूप में योग मार्ग का उल्लेख किया जाता है, वह सर्वप्रथम ऋग्वेद में कहा गया है : **'युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः'** अर्थात् जीव (मनुष्य) को परमेश्वर की उपासना नित्य करनी उचित है। वह मनुष्य अपने मन को सब विद्याओं से युक्त परमेश्वर में स्थित करें। यहाँ पर मन को परमेश्वर में स्थिर करने के साधन योगाभ्यास का निर्देश दिया गया है। अन्यत्र यजुर्वेद में पुनः कहा गया है कि-

---

1. श.ब्रा. 11/5/2/3

योगे योगे तवस्तरं वाजे वाजे हवामहे।
सखाय इन्द्रमूर्तये।।[1]

अर्थात् बार-बार योगाभ्यास करते और बार-बार शारीरिक एवं मानसिक बल बढ़ाते समय हम सब परस्पर मित्रभाव से युक्त होकर अपनी रक्षा के लिए अनन्त बलवान् ऐश्वर्यशाली ईश्वर का ध्यान करते हैं तथा उसका आवाहन करते हैं।

योग के उद्भव अथवा प्रथम वक्ता के विषय में याज्ञवल्क्यस्मृति में कहा गया है कि हिरण्यगर्भ ही योग के सबसे पुरातन अथवा आदि प्रवक्ता हैं। महाभारत में भी हिरण्यगर्भ को ही योग के आदि के रूप में स्वीकार करते हुए कहा गया-**'सांख्यस्य वक्ता कपिलः परमर्षिः स उच्यते। हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः'**[2] अर्थात् सांख्य का वक्ता परम ऋषि मुनिवर कपिल है। योग का आदि प्रवक्ता हिरण्यगर्भ है। हिरण्यगर्भ को वेदों में स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि हिरण्यगर्भ परमात्मा का ही एक विश्लेषण है; अर्थात् परमात्मा को ही हिरण्यगर्भ के नाम से पुकारा जाता है। इससे स्पष्ट होता है कि योग के आदिवक्ता परमात्मा (हिरण्यगर्भ) हैं। जहाँ से इस बात के ज्ञान का उद्भव हुआ तथा वेदों के माध्यम से इस विद्या का प्रादुर्भाव संसार में हुआ। इसी बात को भगवान् श्रीकृष्ण गीता में अर्जुन से कहते हैं :

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्।।[3]

अर्थात् हे अर्जुन! मैंने इस अविनाशी योग को सूर्य से कहा था, सूर्य ने अपने पुत्र वैवस्वत को, उसने अपने पुत्र मनु से कहा और मनु ने अपने पुत्र राजा इक्ष्वाकु से कहा। इस प्रकार यह योग ऋषियों-महर्षियों से होता हुआ आगे बढ़ता गया। भगवद्गीता में ज्ञानयोग, भक्तियोग, कर्मयोग और राजयोग का उल्लेख है।

---

1. यजुर्वेद
2. महाभारत
3. गीता 4.1

हठयोग-परम्परा

हठयोग-परम्परा के आदिगुरु भगवान् शिव को माना जाता है एक बार की बात है कि एक बार भगवान् शिव माँ पार्वती को लेकर भ्रमण पर निकले थे। भ्रमण के दौरान दोनों एक सरोवर के किनारे बैठ जाते हैं। माँ पार्वती की इच्छा पर भगवान् शिव उन्हें हठयोग की शिक्षा देते हैं। भगवान् शिव द्वारा दी गई यह शिक्षा सरोवर में एक मछली सुन लेती है। जब भगवान् शिव को इस बात का आभास होता है, तो वे उस मछली को मत्स्येन्द्र नाथ बना देते हैं। सर्वशक्तिमान् भगवान् शिव ही हठयोग के आदिप्रणेता हैं। स्वयं हठयोगप्रदीपिका के प्रणेता स्वात्मारामजी हठयोगप्रदीपिका की शुरूआत में कहते हैं:- **श्रीआदिनाथाय नमोऽस्तु तस्मै येनोपदिष्टा हठयोगविद्या**[1] अर्थात् उन सर्वशक्तिमान् आदिनाथ को नमस्कार है; जिन्होंने हठयोगविद्या की शिक्षा दी थी। अब यह स्पष्ट हो गया है कि भगवान् शिव ही हठयोग के आदिप्रणेता हैं। पुनः स्वात्माराम कहते हैं :

हठविद्यां मत्स्येन्द्रागोरक्षाद्या विजानते।
स्वात्मारामोऽथवा योगी जानीते तत्प्रसादतः॥[2]

अर्थात् मत्येन्द्रनाथ, गोरक्ष आदि योगी हठविद्या के मर्मज्ञ थे और उन्हीं की कृपा से योगी स्वात्माराम ने इसे जाना। अब हम आपको हठयोग के प्रमुख ग्रन्थों का सामान्य परिचय देते हैं।

हठयोगप्रदीपिका : यह स्वामी स्वात्माराम द्वारा प्रतिपादित हठयोग का एक ग्रन्थ है। अगर आपने इतिहास का अध्ययन किया है, तो 10 वीं तथा 15 वीं शताब्दी में अपने मुट्ठी भर स्वार्थ के लिए कई लोग हठयोग व राजयोग के सम्बन्ध में भ्रान्तियाँ फैलाते रहे। कई लोगों का मत था कि हठयोग व राजयोग- दो अलग-अलग मार्ग हैं। इन दोनों रास्तों का आपस में कोई सम्बन्ध नहीं है। इन भ्रामक तत्त्वों ने वेशभूषा इत्यादि आडम्बरों पर ज़ोर देकर भ्रान्तियाँ फैलाई थी। परन्तु इस शस्य

1. हठ. प्रदी. 1/1
2. ह.प्र. 1/4

श्यामला धरती पर जब भी विकृतियाँ पैदा हुई और अपने चरमोत्कर्ष तक पहुँची, तब किस न किसी महापुरुष का अवतरण हुआ है। स्वात्माराम नाम के इस महापुरुष ने ऐसे समय में हठयोगप्रदीपिका नामक प्रामाणिक वैज्ञानिक पुस्तक लिखकर हठयोग के वास्तविक स्वरूप को हमारे सामने रखा। स्वात्मारामजी ने कहा– **केवलं राजयोगाय हठविद्योपदिश्यते**[1] अर्थात् केवल राजयोग की प्राप्ति के लिए हठयोग का उपदेश दिया जा रहा है।

घेरण्ड संहिता : इसकी रचना महर्षि घेरण्ड ने की थी। कहा जाता है कि एक राजा चण्डकापालि महर्षि घेरण्ड की कुटी में गये और प्रणाम कर एक प्रश्न किया–**'घटस्थयोगं योगेश तत्त्वज्ञानस्य कारणम्। इदानीं श्रोतुमिच्छामि योगेश्वर वद प्रभो'**[2] अर्थात् हे योगेश्वर! तत्त्वज्ञान का कारण जो घटस्थ योग है, उसे मैं जानने का इच्छुक हूँ। हे प्रभु! कृपा करके उसे मेरे प्रति कहिए। महर्षि घेरण्ड कहते हैं–

साधु साधु महाबाहो यस्मात्त्वं परिपृच्छसि।
कथयामि च ते वत्स! सावधानाऽवधारय॥[3]

अर्थात् हे महाबाहो! तुम्हारे प्रश्न के लिए मैं तुम्हारी प्रशंसा करता हूँ। हे वत्स! तुमने जिस विषय की जिज्ञासा की है, उसे मैं तुम्हारे प्रति कहता हूँ। इस प्रकार राजा चण्डकापालि प्रश्न पूछते हैं और महर्षि घेरण्ड उत्तर देते हैं। इस प्रश्न–उत्तर की शैली में पूरी घेरण्डसंहिता लिखी गई है। महर्षि घेरण्ड कौन थे इस बात का किसी को पता नहीं है। मालूम पड़ता है कि महर्षि घेरण्ड एक वैष्णव संत रहे होंगे। उन्होंने कई श्लोकों में विष्णु की चर्चा की है। शायद ऐसा हो कि वैष्णव संत होने के साथ–साथ इन्होंने हठयोग को अपनाया हो। घेरण्डसंहिता को लोग सप्तांग योग के नाम से भी जानते हैं।

---

1. ह.प्र. 1/2
2. घे.सं. 1/2
3. वही 1/3

शिव संहिता : शिवसंहिता योग का एक मुख्य ग्रन्थ है। कहा जाता है कि स्वयं आदिनाथ शिव ने इसकी रचना की थी। शिवसंहिता पर अनेकानेक विद्वानों ने भाषानुवाद किया है। इसको पंच प्रकरण भी कहा जाता है। शिवसंहिता में योग की विविध विषयवस्तु का वर्णन मिलता है। इसमें साधक की दिनचर्या तथा साधना पद्धति का ज्ञान व विज्ञान निहित है। नाड़ी ज्ञान, चक्र तथा कुण्डलिनी का इसमें बृहद् वर्णन मिलता है।

योग का विभिन्न शास्त्रों में वर्णन

वेदों में योग

'योग उद्भव' का अर्थ योग के प्रारम्भ अथवा उत्पन्न होने से लिया जा सकता है। योग का प्रारम्भ आदि काल से ही है, सृष्टि के सबसे प्राचीन ग्रंथ वेद हैं। वेद वही ईश्वरीय ज्ञान हैं; जिसमे मानव जीवन के प्रत्येक पक्ष पर प्रकाश डाला गया है तथा जीवन को सुखमय बनाते हुए जीवन के चरम लक्ष्य मुक्ति के मार्ग को समझाया गया है। इस मुक्ति के मार्ग के साधन के रूप मे योगमार्ग का उल्लेख किया जाता है। सर्वप्रथम ऋग्वेद में कहा गया है-

युञ्जते मन उत युञ्जते धियो
विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः।

अर्थात् जीव (मनुष्य) को परमेश्वर की उपासना नित्य करनी उचित है, वह मनुष्य अपने मन को सब विद्याओं से युक्त परमेश्वर में स्थित करें। यहाँ पर मन को परमेश्वर में स्थिर करने के साधन योगाभ्यास का निर्देश दिया गया है। वेदों में योगविद्या का वर्णन भिन्न-भिन्न स्थानों पर किया गया; जिनमें से कुछ का वर्णन इस प्रकार है। अथर्ववेद, सामवेद में कहा गया है :

योगे योगे तवस्तरं वाजे वाजे हवामहे।
सखाय इन्द्रमूर्तये।।[1]

---

1. अ. 19/24/7, सा.1/2/5/9

अर्थात् हम योगाभ्यास में तथा हर मुसीबत के परम ऐश्वर्यवान् इन्द्र का आवाहन करते हैं और इंद्ररूप ईश्वर हमारे सभी दुःखों और कष्टों को दूर करें। यजुर्वेद में कहा है–

युञ्जानः प्रथमं मनस्तत्त्वाय सविता धियः।
अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्याऽअध्याभरत्॥[1]

जो पुरुष योगाभ्यास और भूगर्भविद्या का ज्ञान चाहे, वह यम आदि योग के अङ्ग और क्रिया–कौशलों से अपने हृदय को शुद्ध करके तत्त्वों को जानने के लिये उत्तम बुद्धि को प्राप्त करके और इनको गुण, कर्म तथा स्वभाव से जानकर उपयोग मे लेवे। फिर जो प्रकाशमान् सूर्यादि पदार्थ हैं, उनका भी प्रकाशक ईश्वर है, उसको जानकर अपनी आत्मा में निश्चय करके, अपने और दूसरों के सब प्रयोजनों को सिद्ध करें। अर्थात् योग को करने वाले मनुष्य ब्रह्मज्ञान के लिए जब अपने मन को परमेश्वर में युक्त करते है, तब परमेश्वर उनकी वृद्धि को अपनी कृपा से अपने से युक्त कर लेते हैं। फिर वें परमात्मा के प्रकाश को धारण करते हैं। अथर्ववेद मे शरीरस्थ चक्रों पर प्रकाश डालते हुए कहा गया–

अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या।
तस्यां हिरण्मयः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः॥[2]

अर्थात् :– आठ चक्रों वाली, नौ द्वारों वाली इस शरीररूप अयोध्या नामक देवनगरी में एक ज्योतिर्मय हिरण्यमयकोश है; जो ज्योति, आह्लाद व प्रकाश से परिपूर्ण है। हमें इसका ध्यान करके इसको प्राप्त करना चाहिए। इसे हम राग–द्वेष से मलिन न करें।

योगवासिष्ठ में योग का स्वरूप

योगवासिष्ठ योग का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। अन्य योग ग्रन्थों की भाँति योगवासिष्ठ में भी योग के विभिन्न स्वरूप जैसे–चित्तवृत्ति,

---

1. यजुर्वेद 11/1
2. अथर्ववेद–10/02/31

यम-स्वरूप, नियम-स्वरूप, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि, मोक्ष आदि का वर्णन बृहद रूप में किया गया है। योगवासिष्ठ के निर्वाण-प्रकरण में वासिष्ठ मुनि रामजी को योग के स्वरूप के बारे में वर्णन करते हुए कहते हैं कि संसार सागर से पार होने की युक्ति का नाम योग है। वह दो प्रकार का है : एक सांख्य बुद्धि ज्ञानयोग और दूसरा प्राण से रोकने का नाम योग बताया है।

इन दोनों प्रकार के योग के द्वारा दु:खरूप संसार से तरा जा सकता है- भगवान् शिव ने दोनों का फल एक ही बताया है। ये योग की दोनों युक्तियाँ योगजिज्ञासु पर निर्भर हैं। किसी जिज्ञासु को योग सरल है और किसी को ज्ञानयोग परन्तु दोनों योग में अभ्यास की अत्यन्त आवश्यकता है।

असाध्यः कस्यचिद्योगः कस्यचिज्ज्ञाननिश्चयः।
मम त्वभिमतः साधो सुसाध्यो ज्ञाननिश्चयः॥[1]

बिना अभ्यास के कुछ नहीं प्राप्त होता। यद्यपि शास्त्रों में योग शब्द से उपर्युक्त दोनों ही प्रकार के कहे गये है, तथापि इस योग शब्द की प्राणनिरोध के अर्थ में ही अधिक प्रसिद्धि है। महर्षि पतंजलि ने चित्त की वृत्ति के निरोध को योग की संज्ञा दी है- **योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।**[2]

चित्तनिरूपण - योगवासिष्ठ में मन को चित्त की संज्ञा दी गयी है। वासिष्ठजी कहते है कि हे राम! यह मन भावनामात्र है और भावना का अर्थ है– विचार। परन्तु विचार क्रिया का रूप है। विचार की क्रिया से सम्पूर्ण फल प्राप्त होते हैं।

मनो हि भावनामात्रँ भावना स्पन्दधर्मिणी।
क्रिया तद्भावितारूपं फलं सर्वोऽनुधावति॥[3]

---

1. निर्वाण प्रकरण सर्ग 13/8
2. यो.सू. 1/2
3. उपशम प्रकरण सर्ग 96-1

यह मन स्वयं भी संकल्पशक्ति से युक्त है। इस लोक में जैसे गुणी का गुण से हीन होना सम्भव नहीं है, उसी प्रकार मन का कल्पनात्मक क्रियाशक्ति से रहित होना असम्भव है। मन जिसका अनुसंधान करता है, उसी का सम्पूर्ण कर्मेन्द्रिय-वृत्तियाँ सम्पादन करती हैं। इसलिए मन को कर्म कहा गया है। मन, बुद्धि, अहंकार, चित्त, कर्म, कल्पना, स्मृति, वासना, अविद्या, प्रयत्न, संस्मृति, इन्द्रिय, प्रकृति, माया, आदि सभी मन की ही संज्ञा हैं-

मनो बुद्धिरहङ्कारश्चित्तं कर्माथकल्पना।
संस्मृतिर्वासना विद्या प्रयत्नः स्मृतिरेव च॥

इन्द्रियं प्रकृतिर्माया क्रिया चेतीतरा अपि।
चित्राः शब्दोक्तयो ब्रह्मन्संसारभ्रमहेतवः॥[1]

संसार का कारण मन की कल्पना ही है। चित्त को चेत्य का संयोग होने पर ही संसार भ्रम होता है। अन्य जितनी संज्ञा मन की कही गयी है, वे सब मन के फुरने से एकदम फुरती हैं। मन के स्वरूप के बारे में बताते हुए योगवासिष्ठ में कहा गया है कि यह मन न तो जड़ है और न चेतन ही है-**'मन इत्युच्यते राम न जडं न च चिन्मयम्'**[2]। जड़ और चेतन की गाँठ को मन कहते हैं और संकल्प-विकल्प की कल्पना ही मन है। यह संसार उसी मन से पैदा हुआ है। यह जड़ और चेतन– दोनों में चलायमान है। यह कभी जड़ की तरफ और कभी चेतन की तरफ चला जाता है। इस मन की कई संज्ञा हैं। मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार और जीव इत्यादि मन की ही संज्ञा हैं। जैसे कोई नट स्वांग रचने से अनेक संज्ञा पाता है; ठीक उसी प्रकार मन संकल्प से अनेक संज्ञा प्राप्त करता है।

यथा गच्छति शैलूषो रूपाण्यलं तथैव हि।
मनो नामान्यनेकानि धत्ते कर्मान्तरं व्रजत्॥[3]

1. उत्पत्तिप्रकणम् सर्ग 96/13-14
2. वही 96/41
3. वही 96/43

यह सम्पूर्ण विस्तृत जगत् मन से ही व्याप्त है। मन से भिन्न तो केवल परमात्मा ही शेष रहते हैं। मन के नाश होने पर सर्वाश्रयदायक परब्रह्म परमेश्वर ही अवशिष्ट रहता है और उसी के प्रमाद के कारण मन इस जगत् की रचना करता है। मन ही क्रिया है। मन के द्वारा ही शरीर बनता है और मरता है। मन के नष्ट होने पर कर्म आदि का सम्पूर्ण भ्रम नाश हो जाता है। जिस पुरुष ने मन पर विजय प्राप्त कर लिया है, वह जन्म-मरण के बन्धन से रहित हो जाता है तथा मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

योगवाशिष्ठ में चित्तप्रसादन : योगवाशिष्ठ के उपशम प्रकरण के 13वें सर्ग में चित्त की शान्ति के उपाय का वर्णन करते हुए कहा है कि जैसे पूर्वकाल में वेदानुसार अन्य महापुरुषों एवं राजा जनक आदि ने जो आचरण किया है, वैसा ही आचरण करके आप भी मोक्षपद को प्राप्त करो। बुद्धिमान् पुरुष स्वयं ही परमपद को प्राप्त होते हैं। जब तक आत्मा प्रसन्न नहीं होता, तब तक इन्द्रियों का दमन करके अपना काम करते रहो। जब वह आत्मारूपी सर्वगत परमात्मा और ईश्वर प्रसन्न हो जाएगा, तो फिर अपने आप ही प्रकाश दिखेगा। इसलिए हे राम! राजा जनक आदि ने जिस-जिस तरह के आचरण किये हैं, उसी प्रकार आप भी ब्रह्मलक्ष्मी होकर आत्मपद में स्थित हों और इस संसार में विचरण करो। इससे आपको तनिक भी दु:ख नहीं होगा-

प्रसन्ने सर्वगे देवे देवेशे परमात्मनि।
स्वयमालोकिते सर्वाः क्षीयन्ते दु:खदृष्टयः।।[1]

हे राम! यह मन अति चंचल है। इसको शान्त करने के लिए आप अपने में यह समझों कि न मैं हूँ और न कोई है। अनिष्ट पदार्थ भी कुछ नहीं है। इससे यह शान्त हो जायेगा।

अवस्तित्वमिदं वस्तु यस्येति लुलितं मनः।[2]

जो राग-द्वेष से मुक्त है, मिट्टी के ढेले, पत्थर और स्वर्ण को एक

---

1. उपशम प्रकरणम् सर्ग 13/4
2. वही 13/24

समान समझता है तथा संसार की वासनाओं का त्याग कर चुका है; ऐसा योगी मुक्त कहलाता है। उसकी सब क्रियाओं में अहंभाव नहीं होता तथा वह सुख-दु:ख में भी समान भाव रखता है। जो इष्ट और अनिष्ट की भावना का त्याग करके प्राप्त हुए कार्य को कर्तव्य समझकर ही उसमें प्रवृत्त होता है, उसका कहीं भी पतन नहीं होता। महामते! यह जगत् चेतनमात्र है, इस प्रकार के निश्चय वाला मन जब भोगों का चिन्तन त्याग देता है; तब वह शान्ति को प्राप्त हो जाता है।

चित्सत्तामात्रमेवेदमिति निश्चयवन्मनः।
त्यक्तभोगाभिमननं शममेति महामते।।[1]

यम-नियम-निरूपण : योगवासिष्ठ में योग साधना करने वाले साधकों को निर्वाण प्राप्ति के लिए यम-नियमों का अभ्यास आवश्यक बताया है। वासिष्ठ जी कहते हैं कि जो अपने पूर्वजों के उपदेश को ध्यान में रखकर उनपर शुभाचरण करता है, वह धर्मात्मा कहलाता है। और पापमार्ग से बचता है। धर्मात्मा भी दो प्रकार के होते हैं : एक प्रवृत्ति वाला, दूसरा निवृत्ति वाला। प्रवृत्ति मार्ग वह है; जिसमें शास्त्रोक्त करने योग्य शुभ कर्म करे और दान पुण्य सदाचरण करके अपने कृत्य कर्म का फल चाहे। निवृत्ति मार्ग वह है; जिसमें संसार के सभी सुखों को मिथ्या समझे, अपने अन्त:करण को स्वभाव से ही स्वच्छ रखे, अपने पवित्र विचार करके स्वाध्याय द्वारा सत्यशास्त्रों का अध्ययन कर अपनी बुद्धि को तीव्र करे और अपनी दृष्टि समान रखे।

योगवासिष्ठ के निर्वाण प्रकरण में आगे कहा है कि जो जिज्ञासु योगसाधक है, उसे चाहिए कि अपने ज्ञान की वृद्धि के लिए तीर्थस्थानों में स्नान, दान तथा सत्यशास्त्रों पर विचार करता हुआ सत्संग भी करे। उसका खान-पान तथा लेना देना सभी कुछ विचार युक्त होना चाहिए। साथ ही क्रोधरहित होकर शुभाचरण करे और पवित्र मार्ग पर चले। क्रमश: सभी इन्द्रिय-जन्य विषयों का त्याग करे और अपनी सम्पूर्ण इच्छाओं को दबाकर केवल दया नाम की इच्छा को अपनावे अर्थात् सब

1. उ.प्र. सर्ग 13/46

पर दयाभाव रखता हुआ सन्तोष को प्राप्त होवे। ऐसा व्यक्ति लोभ, मोह तथा क्रोध आदि से सर्वथा अलग रहता है। समस्त भोगों को त्याग कर देने के कारण उसका हृदय प्रतिक्षण शुभ गुणों से युक्त रहता है। वह फूलों की शय्या को सुखदायी नहीं समझता। इसके विपरीत वन एवं पर्वत की कन्दरा का निवास ही श्रेष्ठ समझता है। इस प्रकार वह कुँआ, बावड़ी, सरोवर एवं नदियों में स्नान तथा भूमि या पत्थर पर शयन करता हुआ, निरन्तर अपने वैराग्य में अभिवृद्धि करता जाता है और फिर धारणा व ध्यान द्वारा चित्त में स्थिरता लाकर, आत्मचिन्तन करता हुआ समस्त सांसारिक भोगों से पूर्णतया विरक्त हो जाता है।

प्राणायाम निरूपण : योगवासिष्ठ में प्राणायाम का भी उल्लेख किया गया है। प्राण के सम्बन्ध में कहा गया है कि यह प्राण हृदयदेश में स्थित रहता है। अपान वायु में भी निरन्तर स्पन्द शक्ति तथा सद्गति करता है। यह अपान वायु नाभि-प्रदेश में स्थित रहती है। **'प्राणापान-समानाद्यैस्ततः स हृदयानिलः'।**[1] किसी भी प्रकार के यन्त्र के बिना प्राणों की हृदय कमल के कोश में होने वाली जो स्वाभाविक बहिर्मुखता है, विद्वान् लोग उसे रेचक कहते हैं। बारह अंगुल पर्यन्त बाह्य प्रदेश की ओर नीचे गये प्राणों का लौटकर भीतर प्रवेश करते समय जो शरीर के अंगों के साथ स्पर्श होता है उसे पूरक कहते हैं। अपान वायु के शान्त हो जाने पर जब वह हृदय में प्राण वायु का अभ्युदय नहीं होता, तब वह वायु की कुंभकावस्था रहती है; जिसका योगी लोग अनुभव करते हैं। इसी को आभ्यन्तर कुम्भक कहते हैं। बाह्य नासिका के अग्रभाग से लेकर बराबर सामने बारह अंगुल पर्यन्त आकाश में जो अपान वायु की निरन्तर स्थिति है, उसे पण्डित लोग बाह्यकुंभक कहते हैं।

अपानस्य बहिष्ठं तमपरं पूरकं विदुः।
बाह्यानाभ्यन्तराँश्चैतान्कुम्भकादीननारतम्।।[2]

प्राणायाम के फल के बारे में उल्लेख करते हुए योगवासिष्ठ के

1. निर्वाण प्रकरण 24/25
2. वही 25/19

निर्वाण-प्रकरण में कहा गया है कि प्राण और अपान के स्वभावभूत ये जो बाह्य और आभ्यन्तर कुम्भकादि प्राणायाम हैं, उनका भलीभाँति तत्त्व रहस्य जानकर निरन्तर उपासना करने वाला पुरुष पुनः इस संसार में उत्पन्न नहीं होता है।

प्राणापानस्वभावांस्तान् बुद्ध्वा भूयो न जायते।
अष्टावेते महाबुद्धेरात्रिंदिवमनुस्मृताः॥[1]

अपान के रेचक और प्राण के पूरक के बाद जब अपान स्थित होता है, तो प्राण का कुम्भक होता है। उस कुम्भक में स्थित होने पर प्राणी तीनों तापों से मुक्त हो जाता है; क्योंकि वह अवस्था आत्मतत्त्व की होती है। उस कुम्भक की अवस्था में जो साक्षीभूत सत्ता है, वही वास्तव में आत्मतत्त्व है। उसमें स्थित होने से प्राण की स्थिरता वाली देश-काल-आदि की अवस्था में स्थिर हुआ मन का मनस्त्व भाव नष्ट हो जाता है।

स्वच्छं कुम्भकमभ्यस्य भूयः परितप्यते।
अपाने रेचकाधारं प्राणपूरान्तरास्थितम्॥[2]

इस प्रकार प्राणायाम का अभ्यास करने वाले पुरुष का मन विषयाकार वृत्तियों के होने पर भी बाह्यविषयों में रमण नहीं करता है। जो शुद्ध और तीक्ष्ण बुद्धि वाले महात्मा इस प्राण विषयक दृष्टि का अवलम्बन करके स्थित है, उन्होंने ही उस परब्रह्म को प्राप्त कर लिया है।

प्रत्याहार-निरूपणः- महर्षि पतंजलि के अनुसार मन के रुक जाने पर नेत्रादि इन्द्रियों का अपने-अपने विषयों के साथ संबंध नहीं रहता है, अर्थात् इन्द्रियाँ शान्त होकर अपना कार्य बन्द कर देती हैं; इसी स्थिति का नाम प्रत्याहार है- **स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः।**[3]

---

1. नि.प्र. 25/20
2. वही 25/53
3. यो.सू. 2/54

योगवासिष्ठ में प्रत्याहार के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा गया है कि इस जगत् में कहीं भी चपलता से रहित मन नहीं देखा जाता। जैसे उष्णता अग्नि का धर्म है ऐसे ही चंचलता मन का। चेतन तत्त्व में जो यह चंचल क्रिया शक्ति विद्यमान है, उसी को तुम मानसिक शक्ति समझो। इस प्रकार जो मन चंचलता से रहित है, यही मरा हुआ कहलाता है। वही तप है और वही मोक्ष कहलाता है। मन के विनाशमात्र से सम्पूर्ण दु:खों की शान्ति हो जाती है और मन के संकल्पमात्र से परम सुख की प्राप्ति होती है।

मनोविलयमात्रेण दु:खशान्तिरवाप्यते।
मनोमननमात्रेण दु:खं परमवाप्यते।।[1]

यह मन की चपलता अविद्या से उत्पन्न होने के कारण अविद्या कही जाती है। उसका विचार के द्वारा नाश कर देना चाहिए। विषय चिन्तन का त्याग कर देने से अविद्या और उस चित्त सत्ता का अन्त:करण में लय हो जाता है। और ऐसा होने से मोक्ष सुख की प्राप्ति होती है; जिसने मनरूपी पाश को अपने मन के द्वारा ही काटकर आत्मा का उद्धार नहीं कर लिया, उसे दूसरा कोई बन्धन नहीं छुड़ा सकता।

विद्वान् पुरुष को चाहिए कि जो-जो वासना, जिसका दूसरा नाम मन है, उदित होती है, उस-उस का परित्याग करे; उसे मिथ्या समझ कर छोड़ दे। इससे अविद्या का क्षय हो जाता है। भावना की भावना न करना ही वासना का क्षय है। इसी को मन का नाश एवं अविद्या का नाश भी कहते हैं।

इस प्रकार से निश्चय मन वाला जब भोगों का चिन्तन त्याग देता है, तब वह शान्ति को प्राप्त हो जाता है।[2]

---

1. उत्पत्तिप्रकरण 112/9
2. वही 112/22

ध्यान-निरूपणः- धारणा वाले स्थान पर एक वस्तु के ज्ञान का प्रवाह बना रहना ध्यान कहलाता है : **तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्।**[1] योगवासिष्ठ में ध्यान के बारे में वर्णित करते हुए उपशम-प्रकरण में ओंकार का ध्यान करना बतलाया है। ओंकार में अकार, उकार और मकार तीन शब्द है; जो क्रमशः अकार से ब्रह्मा, उकार से विष्णु तथा मकार से शिव का द्योतक है। इस प्रकार अकार से ब्रह्मा का स्मरण करें, उकार से विष्णु का स्मरण करें तथा मकार से शिव का ध्यान करते हुए तुरीयपद को प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। यही ध्यान का स्वरूप है।

समाधि-निरूपणः- समाधि के स्वरूप के बारे में वासिष्ठ जी श्रीराम से कहते हैं कि अब तुम समाधि का लक्षण सुनो। यह जो गुणों का समूह गुणात्मक तत्त्व है, उसे अनात्म तत्त्व मानकर अपने आप को केवल इनका साक्षीभूत चेतन जानो और जिसका मन स्वाभाविक सत्ता में लगकर शीतल जल के समान हो गया है। उसको ही समाधिस्थ जानना चाहिए।

इमं गुणसमाहारमनात्मत्वेन पश्यतः।
अन्तःशीतलता यासौ समाधिरिति कथ्यते।।[2]

इसी का नाम समाधि है। जो मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा आदि गुणों में स्थित होकर आत्मा के दर्शन से शान्तिमान् हुआ है, उसको समाधि कहते हैं। हे राम! जिसको ऐसा निश्चय हो गया है कि मैं शुद्ध चिदानन्द स्वरूप हूँ और दृश्यों से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं, उसके लिए घर और बाहर एक समान हैं; फिर वह चाहे कहीं रहे। अन्तःकरण का शान्त होना ही महान् तपों का फल है। जिसने ऊपर से तो इन्द्रियों का हनन कर लिया है, मगर मन से संसार के पदार्थों की चिन्ता करता रहता है; उसकी समाधि व्यर्थ है। उसका तो समाधि में बैठना ऐसा है, जैसे कोई उन्मत्त होकर नृत्य करे। देखने में तो व्यवहार करे; मगर मन

1. यो.सू. 3/2
2. उपशम प्रकरण 56/7

वासना से अलग हो, तो उसको बुद्धिमान् पुरुष समाधि के समान मानते हैं। वास्तव में वही स्वस्थ आत्मा कहलाने का अधिकारी है और उसी को समाधि कहते हैं। जिसके हृदय से संसार का राग-द्वेष समाप्त हो गया और जिसने शान्ति प्राप्त कर ली, उसको सदिव्य समाधिस्थ जानना चाहिए।[1]

सम्पूर्ण भाव पदार्थों में आत्मा को अतीत जानना समाहित चित्त कहलाता है। समाहित चित्त वाला व्यक्ति चाहे कितने ही जन समूह में क्यों न रहे, मगर उसका किसी से कोई सम्बन्ध नहीं रहता; क्योंकि उसका चित्त हमेशा अन्तर्मुख रहता है। वह सोते-बैठते, खाते-पीते, चलते-फिरते जगत को आकाशरूप मानता ऐसे प्राणी को अन्तर्मुखी कहते हैं; क्योंकि उसका हृदय शीतल होने के कारण उसको सम्पूर्ण जगत् शीतल ही भासता है। वह जब तक जीता है, तब तक शीतल ही रहता है।

मोक्ष (मुक्ति) निरूपण- मोक्ष का वर्णन करते हुए वासिष्ठ जी, श्रीराम से कहते हैं कि लोक में दो प्रकार की मुक्ति होती है- एक जीवन्मुक्ति और दूसरी विदेहमुक्ति। जिस अनासक्त बुद्धि वाले पुरुष की इष्टानिष्ट कर्मों के ग्रहण त्याग में अपनी कोई इच्छा नहीं रहती; अर्थात् जिसकी इच्छा का सर्वथा अभाव हो जाता है, ऐसे पुरुष की स्थिति को तुम जीवन्मुक्त अवस्था सदेहमुक्ति समझो। अर्थात् देह का विनाश होने पर पुनर्जन्म से रहित हुई, वही जीवन्मुक्ति विदेहमुक्ति कही जाती है।[2]

जिन्हें विदेहमुक्ति हो गई है, वे फिर जन्म धारण करके दृश्यता को नहीं प्राप्त होते। ठीक उसी तरह, जैसे भुना हुआ बीज जमता नहीं है। मोक्ष की प्राप्ति ज्ञान से होती है, कर्म से नहीं। वासिष्ठ कहते हैं कि हे रघुनन्दन! परब्रह्म परमात्मा देवताओं के भी देवता हैं। उसके ज्ञान से ही परम सिद्धि (मोक्ष) की प्राप्ति होती है, क्लेशयुक्त सकाम कर्मों से नहीं। संसारबन्धन की निवृत्ति या मोक्ष की प्राप्ति के लिए ज्ञान ही साधन है।

1. उ.प्र. 56/20
2. वही 42/12-13

अयं सदेव इत्येव सम्परिज्ञानमात्रतः।
जन्तोर्न जायते दुःखं जीवन्मुक्तत्त्वमेति च॥[1]

सकाम कर्म का इसमें कोई उपयोग नहीं है; क्योंकि मृगतृष्णा में होने वाले जल के भ्रम का निवारण करने के लिए ज्ञान का उपयोग ही देखा गया है। ज्ञान से ही उस भ्रम की निवृत्ति होती है, किसी कर्म से नहीं। सत्संग तथा सत्शास्त्रों के स्वाध्याय में तत्पर होना ही ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति में हेतु है। वह स्वाभाविक साधन ही मोहजाल का नाशक होता है; जिससे जीव के दुःख का निवारण होकर वह जीवनमुक्त अवस्था को प्राप्त होता है। इसलिए आत्मा को सत्य जानकर उसी की भावना करो और संसार को असत् जानकर इसकी भावना का त्याग कर दो; क्योंकि सबका अधिष्ठान आत्मतत्त्व ही है। वह आत्मतत्त्व शुद्धरूप परमशान्त और परमानन्द पद है। उसको प्राप्त कर लेने पर परम सुख की प्राप्ति होती है।

गीता में योग का स्वरूप

श्रीमद्भगवद्गीता हिन्दुओं के पवित्रतम ग्रन्थों में से एक है। इसमें भगवान् कृष्ण द्वारा कुरुक्षेत्र युद्ध में अर्जुन को दिया गया दिव्य उपदेश है। यह गीता वेदान्त-दर्शन का सार है। गीता का सन्देश महाभारत के भीष्मपर्व में दिया गया उपदेश है। महाभारत में भीष्म पर्व के 25 से 42 अध्याय के अन्तर्गत भगवद्गीता आती है। फिर शान्तिपर्व और अश्वमेधपर्व में भी गीता का कुछ प्रसंग उल्लिखित मिलता है। गीता में एकेश्वरवाद की चर्चा है। इसमें अट्ठारह अध्याय हैं; जिनको तीन भागों में बाँटा गया है। प्रथम भाग में कर्मयोग 1-6 अध्याय है। द्वितीय भाग में भक्तियोग 7-12 अध्याय है। तृतीय भाग में ज्ञानयोग 13-18 अध्याय है। गीता के कुल 700 श्लोक में भगवान् श्री कृष्ण ने 574 श्लोक बोले और अर्जुन ने 74 श्लोक बोले संजय ने 51 श्लोक बोले और धृतराष्ट्र ने 1 श्लोक बोला। महाभारत में वर्तमान कलियुग तक की घटनाओं का विवरण

1. उत्पत्ति प्रकरण 6/6

मिलता है। आज से लगभग 5500 वर्ष पूर्व भगवान श्रीकृष्ण् ने अपने मित्र तथा भक्त अर्जुन को यह गीता सुनाई थी। गीता में 'योग' शब्द का अर्थ विभिन्न अर्थों के लिए प्रयुक्त हुआ है। यथा–

1. **युजिर् योगे** धातु से बना योग–शब्द का अर्थ–समरूप परमात्मा के साथ नित्य सम्बन्ध से है। उदाहरणार्थ– **समत्वं योग उच्यते।**[1]
2. **युज् समाधौ** धातु से बना योग–शब्द का अर्थ चित्त की स्थिरता अर्थात् समाधि की स्थिति से है। उदाहरणार्थ– **यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।**[2]
3. **युज् संयमने** धातु से बना योग–शब्द का अर्थ सामर्थ्यप्रभाव से है। उदाहरणार्थ– **पश्य मे योगमैश्वरम्।**[3]

गीता का योग विलक्षण है। पातंजल योगदर्शन में चित्तवृत्तियों के निरोध को योग कहा गया है[4] तथा योग के परिणामस्वरूप अर्थात् जब वृत्तियों का निरोध हो जाता है; तब द्रष्टा की स्वरूप में अवस्थिति होती है : तात्पर्य यह है कि तब द्रष्टा की शुद्ध परमात्मस्वरूप में अवस्थिति होती है **: तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्**[5] पातंजल योगदर्शन में योग का जो परिणाम बताया गया है, उसी को गीता में योग कहा गया है। तात्पर्य यह है कि गीता के अनुसार चित्तवृत्तियों से सर्वथा सम्बंध विच्छेदपूर्वक स्वतः सिद्ध सम–स्वरूप में स्वाभाविक स्थिति को योग कहते हैं **: सिद्ध्य-सिद्ध्योस्समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते।।**[6] गीता में योग की विभिन्न परिभाषाएँ दी गई हैं। द्वितीय अध्याय के 48वें श्लोक में योग की परिभाषा देते हुए कहा गया है **: 'योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय'।** अर्थात् हे अर्जुन! तू कर्मफलों की आसक्ति त्यागकर समबुद्धि

1. गीता, 2/48
2. वही, 6/20
3. वही, 11/8
4. पातंजल योग, 1/2
5. वही, 1/3
6. गीता, 2/48

होकर कर्म कर; क्योंकि जिसका भूतों में समान भाव, सिद्धि और असिद्धि में जिसकी बुद्धि समान रहती है, वही योग की अवस्था है। अर्थात् योग साधक का चित्त सुख-दु:ख में लाभ-हानि में जय-पराजय में शीत-उष्ण, भूख-प्यास आदि सभी द्वन्द्वों में समान बना रहता है। बुद्धि का यह सम भाव ही योग है।

वास्तविक ज्ञान वही होता है, जो ज्ञान मुक्ति के मार्ग की ओर अग्रसरित करता है; क्योंकि कहा भी गया है- **सा विद्या या विमुक्तये;** अत: गीता में भी मुक्ति प्रदायक ज्ञान है। इस बात की पुष्टि स्वयं व्यासजी ने महाभारत के शान्तिपर्व में प्रकट की है : **विद्या योगेन रक्षति** अर्थात् ज्ञान की रक्षा योग से होती है। श्रीमद्भगवद्गीता को यदि योग का मुख्य ग्रन्थ कहा जाये, तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। योग के आदि प्रवक्ता स्वयं श्रीकृष्ण भगवान् हैं। इसलिए उन्हें योगेश्वर भी कहा गया है। गीता का बार-बार पाठ, अध्ययन और मनन करने से या यों कहें कि गीता में नित्य-नित्य गहरा गोता लगाने से उसके दिव्य ज्ञान की प्राप्ति होती है। ज्योतिर्मय रत्नों से भरे महासिन्धु में गोता लगाने वाला प्रत्येक डुबकी पर कुछ-न-कुछ पाता है। गीता का अध्ययन करते-करते हमें यह बोध होता है कि यह प्राचीन परम्परागत ज्ञान का आधार है। श्रीकृष्ण ने अपने श्रीमुख से कहा है : आदि काल में भगवान् ने गीता का उपदेश सूर्य भगवान् को दिया, सूर्य ने अपने पुत्र वैवस्वत मनु को, मनु ने अपने पुत्र राजा इक्ष्वाकु से कहा। इस प्रकार योग को ऋषियों और महर्षियों ने जाना। श्रीकृष्ण ने कहा कि - मेरे प्रिय पार्थ! मैंने गीता के इस महायोग को अव्यय, शाश्वत या सनातन योग को सबसे पहले विवस्वान् के प्रति कहा था। विवस्वान् ने मनु को और मनु ने अपने बड़े पुत्र इक्ष्वाकु को गीता के योग की दीक्षा दी। हे परन्तप! मेरा यह योग एक-दूसरे को मिलता रहा और इस प्रकार परम्परा से प्राप्त हुए इस योग को राजर्षियों ने जाना। जब कभी इसका लोप हुआ, मैंने किसी-न-किसी के माध्यम से युगों-युगों में पुन: पुन: इस योग को प्रकट किया स्थापित किया। मेरे प्रिय परंतप! तुम मेरे सखा हो, मुझे अतिप्रिय हो। अत: वही यह पुरातन योग आज मैंने तुझको कहा है; क्योंकि यह बड़ा ही उत्तम

रहस्य है अर्थात् गुप्त रखने योग्य विषय है। श्रीमद्‌भगवद्‌गीता के प्रत्येक अध्याय को योग की संज्ञा दी गयी है। इस प्रकार अट्‌ठारह अध्यायों को क्रमशः निम्न योगों से अभिहित किया गया है; जो इस प्रकार है–

1. अर्जुनविषाद योग, 2. सांख्ययोग, 3. कर्मयोग, 4. ब्रह्मयोग, (ज्ञान कर्म संन्यास योग), 5. कर्मसंन्यासयोग, 6. आत्मसंयमयोग, 7. ज्ञानविज्ञानयोग, 8. अक्षरब्रह्मयोग, 9. राजविद्याराजगुह्ययोग, 10. विभूतियोग, 11. विश्वरूपदर्शनयोग, 12. भक्तियोग, 13 . क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विभागयोग, 14. गुणत्रयविभागयोग, 15. पुरुषोत्तमयोग, 16. दैवासुरसम्पद्-विभागयोग, 17. श्रद्धात्रयविभागयोग एवं 18. मोक्षसंन्यासयोग।

यदि इन सभी का विश्लेषण किया जाए, तो प्रत्येक छः अध्यायों में उपदेश है। पहले छः अध्यायों में पाँच की साधना प्रणाली का वर्णन है; जिन्हें कर्मयोग के अन्तर्गत रखा गया है। अगले छः अध्यायों में भगवान् ने अपने उपदेश का मूल अथवा गीता हृदय खोल कर रख दिया है तथा अपने शिष्य को दिव्यदृष्टि प्रदान की है। इसमें 'भक्ति योग' है। अन्त के छः अध्यायों में भगवान् श्रीकृष्ण ने कुछ विशिष्ट एवं गूढ सिद्धान्तों की मीमांसा की है; जिन्हें समझने के लिए योग को पूर्णतः व्यवहार में लाना अत्यन्त आवश्यक है। यही ज्ञान योग है।

गीता में योग के विभिन्न रूपों का वर्णन किया गया है। परन्तु गीता के अन्यान्य योगों में आपाततः योग के मुख्यतः तीन स्वरूप स्पष्ट दिखते हैं। इनका संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है : गीता के दूसरे अध्याय में योग के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा है :

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय।
सिद्ध्यसिद्ध्योस्समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते।।[1]

अर्थात् जब साधक का चित्त सिद्धि और असिद्धि में समान बुद्धिवाला होता है, तब इस अवस्था में साधक का चित्त सुख-दुःख,

1. गीता 2/48

मान-अपमान, लाभ-हानि, जय-पराजय, शीत-उष्ण, तथा भूख-प्यास आदि द्वन्द्व में समान बना रहता है। इस अवस्था में साधक सभी पदार्थों में समान भाव रखता है। इस अवस्था के कारण उसका अज्ञान नष्ट हो जाता है, सभी दु:ख समाप्त हो जाते हैं। इसी समत्व भाव का नाम 'योग' है। गीता के दूसरे अध्याय में ही योग की एक अन्य परिभाषा देते हुए भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं-

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्।।[1]

इस कथन का अभिप्राय है- फलासक्ति का त्याग करके कर्म करना ही कर्मकौशल है। कर्म करते हुए यदि कर्ता कर्म में आसक्त हो गया, तो वह कर्मकौशल नहीं कहलाता है। कर्ता की कुशलता तो यह है कि कर्म करके उसको वहीं छोड़ दिया जाये। हानि और लाभ, जय अथवा पराजय, कार्य-सिद्धि या असिद्धि के विषय में चिन्ता ही न की जाये। कर्म कर्ता तो स्वतन्त्र हुआ करता है। करते हुए यदि कर्ता उस कर्म का दास होकर रह गया, तो वह कर्ता का अस्वातन्त्र्य हुआ। यदि कर्म ने कर्ता को पराधीन कर दिया, तो यह कर्म की विजय हुई कर्ता की नहीं। कर्ता का स्वातन्त्र्य तो तब सिद्ध होता है, जब कर्ता स्वेच्छया कर्म का और उसके फल का त्याग कर देता है। अत: फलासक्ति का त्याग करके कर्म करना ही कर्मकौशल है। दुष्कृत में आसक्ति की अपेक्षा भी सुकृत में आसक्ति को छोड़ना और कठिन है। किन्तु जिसको यह अनासक्ति योग की बुद्धि प्राप्त हो गई, वह दुष्कृत को और विशालतर सुकृत को- इन दोनों को त्याग देता है। इसलिए तू इस अनासक्ति-योग की प्राप्ति के लिए जुट जा। जो लोग इस अनासक्ति योग को प्राप्त कर लेते हैं, वे जन्म के बन्धनों से घबराते नहीं। विपरीत-से-विपरीत परिस्थितियों को लाँघकर पार हो जाते हैं। इसी कुशलता का नाम योग है।

---

1. गीता 2/50

योग की एक अन्य महत्त्वपूर्ण परिभाषा देते हुए गीता के छठे अध्याय में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि मनुष्य जीवनपर्यन्त दु:खों से संयोग बनाए रहता है। दु:खों के इसी संयोग का पूर्णत: वियोग हो जाना, दु:खों की सदा के लिए समाप्ति हो जाना ही योग है : **तं विद्याद् दु:खसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्;**[1] क्योंकि जब दु:खों की आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है, तो वे पुन: उत्पन्न नहीं होते।

गीता में 'योग' शब्द का अनेक अर्थ में प्रयोग किया गया है। परन्तु मुख्य रूप से गीता में ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग– इन तीन योग मार्गों का विस्तृत रूप में वर्णन किया गया है। भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में योग का फल बताते हुए कहा है कि जो साधक योग का आचरण करता है, जिसका हृदय शुद्ध है, जिसने अपने आपको जीत लिया है, जिसने अपने इन्द्रियों को जीत लिया है और जिसकी आत्मा सब भूतों की आत्मा बनी है; वह कर्म करता हुआ भी अलिप्त रहता है–

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रिय:।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते।।[2]

इस प्रकार हम देखते है कि गीता योगशास्त्र ही है। इसके सभी अध्यायों में योग की विस्तृत चर्चा मिलती है। इसमें योगसाधक के लिए विभिन्न योगमार्गों का वर्णन किया गया है; जिसके अनुरूप प्रत्येक मनुष्य कोई एक मार्ग को अपनाकर परमलक्ष्य मोक्ष तक पहुँच सकता है।

उपनिषदों में योगाङ्गों का स्वरूप

उपनिषदों में योग का स्वरूप जानने से पूर्व 'उपनिषद्' शब्द पर विचार किया जाता है। 'उपनिषद्' शब्द 'उप' और 'नि' उपसर्गपूर्वक 'सद्' धातु में 'क्विप्' प्रत्यय लगाकर निष्पन्न हुआ है। यहाँ 'उप' शब्द का अर्थ "समीप" या "निकट" है और "नि+सद्" का अर्थ "बैठना"। इस प्रकार जिसमें गुरु और शिष्य समीप बैठकर आत्मज्ञान की चर्चा

1. गीता 6/23
2. वही 5/7

करते हैं, उस ज्ञान की चर्चा को 'उपनिषद्' कहते हैं। यहाँ 'सद्' धातु के तीन अर्थ है- विशरण (विनाश), गति (ज्ञान-प्राप्ति) तथा अवसादन (शिथिल करना)। अर्थात् जो समस्त अनर्थों को उत्पन्न करने वाले संसार का नाश करती, वह उपनिषद् है। संसार की कारणभूत अविद्या को शिथिल करती तथा ब्रह्म की प्राप्ति कराती है, वह उपनिषद् है। अर्थात् उप (व्यवधान रहित)+नि (सम्पूर्ण)+षद (ज्ञान) = उपनिषद्। उपनिषद् को पराविद्या कहते हैं, जबकि संहिता, ब्राह्मण और आरण्यक को अपरा विद्या कहते हैं। **धर्मे रहस्युपनिषत् स्यात्।** इसके अनुसार 'उपनिषद्' शब्द गूढ धर्म एवं रहस्य के रूप में प्रयुक्त होता है। प्राणियों के परम पुरुषार्थ को प्रकाशित करने वाले परमार्थ को दिखलाने वाली विद्या उपनिषद् है। उपनिषद् इसलिए भी कहा जाता है; क्योंकि इनके ज्ञान से शिष्य ब्रह्म के समीप बैठने का अधिकारी हो जाता है। इस प्रकार 'उपनिषद्' शब्द की परिभाषा देते हुए कह सकते हैं कि जो ज्ञान साधक के चित्त के दोषों को दूर करता हुआ उसके चित्त की गति को ब्रह्म की ओर करता है और ब्रह्म के पास स्थिर करता है अर्थात् ब्रह्म के सान्निध्य में बैठाता है; वह उपनिषद् है।

प्रतिपाद्य विषय : विश्व के कारण तत्त्व का विचार उपनिषदों के ज्ञानकाण्ड में किया गया है। अतएव उपनिषद् को वेद का ज्ञानकाण्ड भी कहा जा सकता है। उपनिषद् का प्रतिपाद्य विषय ज्ञान है; जिसके आधार पर उसे ज्ञान नाम से सम्बोधित किया जाता है। वेदों का सिद्धान्त उपनिषदों में ही वर्णित है। इस आधार पर उपनिषद् का एक नाम वेदान्त है; क्योंकि यह वेद के चार भागों (संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद्) में अन्तिम भाग के रूप में प्रतिष्ठित पाया जाता है। इसे वेदों के अन्त का सिद्धान्त कहा जाता है। वाक्यान्तर से यह भी कहते हैं कि उत्तर मीमांसा या वेदान्त दर्शन (वेदान्त) का अर्थ है– उपनिषद् और उपनिषद् का सार-तत्त्व है वेदान्त। उपनिषद् को वेद-पुरुष का शिरोभाग (मस्तिष्क) कहा जाता है। वेदत्रयी के अधिकांश भाग में कर्मकाण्ड है। कर्म के द्वारा मल की निवृत्ति होने पर एकाग्रता की प्राप्ति के लिये ज्ञानकाण्ड-उपनिषद् का विधान है। ईश्वरीय कृति को श्रुति कहते हैं।

प्राचीन काल में (वेद एवं ब्राह्मण ग्रन्थों की भांति) उपनिषद् को श्रुति नाम से पुकारते थे। अत एव उपनिषदों को ईश्वरीय कृति (श्रुति) भी कह सकते हैं।

उपनिषदों की संख्याः- आजकल 220 उपनिषद् प्राप्त है। सब उपनिषदों में 108 उपनिषद् प्रमुख हैं। मुक्तिकोपनिषद् में उपलब्ध उपनिषदों की एक सूची दी गई है। उसके अनुसार उपनिषद् 108 हैं; जिसमें ऋग्वेद के 10 उपनिषद् हैं, शुक्ल यजुर्वेद के 19 उपनिषद् हैं, कृष्ण यजुर्वेद के 32 उपनिषद् हैं, सामवेद के 16 उपनिषद् हैं तथा अथर्ववेद के 31 उपनिषद् हैं। उपनिषदों की संख्या वैसे तो दो सौ से अधिक है, किन्तु यहाँ पर सभी उपनिषदों को न लेकर ईशादि प्रधान एकादश उपनिषदों को लिया गया है; जो निम्नलिखित है-(1) ईश, (2) केन, (3) कठ, (4) प्रश्न, (5) मुण्डक, (6) माण्डूक्य, (7) ऐतरेय, (8) तैत्तिरीय, (9) छान्दोग्य, (10) बृहदारण्यक और (11) श्वेताश्वतर-उपनिषद्। इनका संक्षिप्त वर्णन निम्न प्रकार है:

1. **ईशोपनिषद्**- इस उपनिषद में सर्वव्यापक परमात्मा का स्मरण करते हुए लोगों को निष्काम कर्म करने का उपदेश दिया गया है।
2. **केनोपनिषद**- इसमें मन, प्राण, वाणी, और श्रोत्र आदि के प्रेरक देव परमात्मा को जानने का प्रयास किया गया है।
3. **कठोपनिषद**- इस उपनिषद् में नचिकेता और यम के संवाद रूप में ईश्वर के स्वरूप का विशद वर्णन किया गया है।
4. **प्रश्नोपनिषद्**- इसमें विभिन्न ऋषियों (सुकेशा, सत्यकाम, सौर्यायणी, आश्वलायन, भार्गव और कबन्धी) के छः प्रश्नों का उत्तर दिया गया है।
5. **मुण्डकोपनिषद्**- इस उपनिषद में ब्रह्मविद्या का उपदेश किया गया है। इसमें तीन मुण्डक है तथा प्रत्येक मुण्डक के दो-दो खण्ड है।
6. **माण्डूक्योपनिषद्**- इस उपनिषद में ओंकार की व्याख्या और उसके उपासना के फल का वर्णन किया गया है।

7. **तैत्तिरीयोपनिषद्**- इसमें तीन भाग हैं- शिक्षावल्ली, ब्रह्मानन्दवल्ली तथा भृगुवल्ली। शिक्षावल्ली में मन्त्रों के वर्ण, स्वर, मात्रा और बल की व्याख्या की गयी है। ब्रह्मानन्दवल्ली में हृदयगुहा में प्रतिष्ठित परमेश्वर को जानने का फल बताया है तथा भृगुवल्ली में ब्रह्मा के विभिन्न स्वरूपों और उसकी उपासना का फल बताया गया है।

8. **ऐतरेयोपनिषद्**- इस उपनिषद् में तीन अध्याय हैं। इसमें इन्द्रियों की उत्पत्ति और उनके निवास स्थान, मनुष्य के तीन जन्मों का तथा ईश्वर के उपास्य का प्रतिपादन किया गया है।

9. **श्वेताश्वेतरोपनिषद्**- इसमें ब्रह्मज्ञान का विस्तार से वर्णन किया गया है। इसमें छह अध्याय हैं।

10. **छान्दोग्योपनिषद्**- इस उपनिषद् में आठ प्रपाठक हैं। इनमें ब्रह्मविद्या एवं उपासना का विस्तृत विवेचन किया गया है।

11. **बृहदारण्यकोपनिषद्**- इन सभी उपनिषदों में यह सबसे बृहत्काय उपनिषद् है। यह छ: अध्यायों में निबद्ध है; जिसमें ब्रह्मविद्या के अनेक तत्त्वों पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया गया है।

उपनिषदों में यम व नियम : उपनिषदों में यम-नियम की चर्चा महर्षि पतञ्जलि के योगदर्शन के समान ही की गई है। इनमें इतना अन्तर अवश्य है कि इनमें से किसी-किसी उपनिषद में यम-नियमों की संख्या पतंजलि के समान पाँच-पाँच न मानकर दस-दस मानी गयी है। न्यायदर्शन का आर्ष उपदेश, सांख्य योग का विवेकज्ञान, योग का तत्त्वज्ञान, मीमांसकों का नि:श्रेयस का मार्ग, अद्वैत वेदान्त के साधनचतुष्टय- ये सब इन्हीं पर आधारित है। बौद्ध दर्शन एवं जैन दर्शन ने इनको ही धर्मों का मूल माना है। अन्य उपनिषदों जैसे- शाण्डिल्योपनिषद् (1.1), जाबालदर्शनोपनिषद् (1.6) तथा त्रिशिखब्राह्मणोपनिषद् (3.3) में समान रूप से अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, दया, आर्जव, क्षमा, धृति, मिताहार तथा शौच- इनकी गणना यमों के अन्तर्गत की गयी है। इन तीनों उपनिषदों में नियमों के अन्तर्गत तप, संतोष, आस्तिक्य, दान,

ईश्वर पूजन, सिद्धान्त श्रवण, ही, मति, जप तथा व्रत- इन दस की गणना नियमों के अन्तर्गत की गयी है। ईशादि प्रधान उपनिषदों में सत्य, ब्रह्मचर्य, तपस्या पर बहुत अधिक बल दिया गया है। इसके अतिरिक्त शौच, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान, प्रत्याहार आदि अन्य योगांगो की विस्तृत चर्चा भी इन उपनिषदों में की गई हैं।

(क) अहिंसा : अहिंसा का पालन समस्त धर्मों एवं समस्त दर्शनों ने स्वीकार किया है। कायिक, वाचिक तथा मानसिक रूप से किसी भी प्राणी को कष्ट न पहुँचाना अहिंसा है। व्यासजी के अनुसार सभी प्राणियों से सर्वदा तथा सर्वथा द्रोह-द्वेष भावना न रखना ही अहिंसा है **तत्राहिंसा सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानामनभिद्रोहः।**[1] ईशादि उपनिषदों में अहिंसा का पृथक् रूप में उल्लेख मिलता है। छान्दोग्योपनिषद् में कहा गया है कि जो व्यक्ति तप, दान, आर्जव, अहिंसा और सत्यवचन में जीवन व्यतीत करता है, उसका जीवन वास्तव में उपकारी का जीवन है-**यत्तपो दानमार्जवमहिंसा सत्यवचनमिति वा अस्य दक्षिणाः।**

(ख) सत्य : उपनिषदों में सत्य पर बल देते हुए कहा गया है कि सत्य से ही देवमार्ग बना है तथा आप्तकाम ऋषि जिस मार्ग पर चलते हैं, जहाँ पहुँचते हैं; वह सत्य का ही परमधाम है। **सत्यमेव जयते नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः।**[2] इसी उपनिषद् में एक अन्य स्थान पर कहा गया है कि **सत्यमेव जयते** सत्य की ही विजय होती है, असत्य की नहीं। ऋषियों की समस्त साधना का आधार सत्य ही है। तैत्तिरियोपनिषद् में सवर्दा सत्य बोलना एवं धर्माचरण करने की चर्चा की गयी है- **सत्यं वद। धर्मं चर।** प्रश्नोपनिषद् में कहा गया है कि जो व्यक्ति असत्य बोलता है, वह समूल सूख जाता है। **समूलो वा एष परिशुष्यति योऽनृतमभिवदति।**[3]

(ग) ब्रह्मचर्य : उपनिषदों में ब्रह्मचर्य को उत्कृष्ट तप कहा

1. योगसूत्र व्यासभाष्य-2/29
2. मुण्डकोपनिषद्-3-1-6
3. प्रश्नोपनिषद्-6-1

गया है। छान्दोग्योपनिषद् (8/5/3) में कहा गया है कि ब्रह्मचर्य के द्वारा ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है : **तद्य एवैतं ब्रह्मलोकं ब्रह्मचर्येणानुविन्दन्ति।** इसी प्रकार कठोपनिषद में कहा गया है कि ब्रह्मप्राप्ति के लिए ब्रह्मचर्य व्रत का पालन किया जाता है : **यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति।**[1]

(घ) अपरिग्रह : उपनिषदें अपरिग्रह वृत्ति को दृढ़ करती हैं। यथा–कठोपनिषद् में यमाचार्य नचिकेता के समक्ष संसार के सभी प्रकार के ऐश्वर्यों का प्रलोभन उपस्थित करते हैं। किन्तु नचिकेता यह कहकर इनका तिरस्कार कर देता है–**तवैव वाहास्तव नृत्यगीते।** यमाचार्य! मुझे इन विषयों में से कुछ नहीं चाहिए, ये सब आप को मुबारक हो। इनके त्याग में नचिकेता जो हेतु प्रस्तुत करता है; वह योग भावना से ही अनुप्राणित है। वह कहता है कि ये सभी प्रकार के भोग अनित्य, इन्द्रियों के तेज को नष्ट करने वाले हैं। इनसे तृप्ति नहीं हो सकती। इस प्रकार विषयों में विविध दोषों को देखकर नचिकेता उसका त्याग कर देता है। यह अपरिग्रह वृत्ति का ही फल है–

श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत्सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः।
अपि सर्वं जीवितमल्पमेव तवैव वाहास्तव नृत्यगीते॥[2]

नियम

(ङ) शौच : उपनिषदों में भी आचरण की शुद्धि पर बल दिया गया है। कठोपनिषद् में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि जो व्यक्ति सदैव पवित्र विचारों का चिंतन करता है। वह उच्च पद को प्राप्त कर लेता है;

यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्कः सदा शुचिः।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद् भूयो न जायते॥[3]

(छ) सन्तोष : ईशोपनिषद् में उपदेश दिया गया है कि मनुष्य को त्यागपूर्वक ही उपभोग करना चाहिए, उतने में ही सन्तोषपूर्वक रहना

---

1. कठोपनिषद–1.1.15
2. वही–1.1.26
3. वही– 3.8

चाहिए : **तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः मा गृधः कस्यस्विद्धनम्।**[1] यह एक प्रकार से संतोषवृत्ति धारण करने का ही उपदेश है। यहाँ पर स्पष्ट रूप में लालच न करने की बात कही गयी है।

(ज) तप : तप के विषय में प्रश्नोपनिषद् में कहा गया है कि अपने शरीर को साध लेना ही तप है। इसलिए पिप्पलाद जिज्ञासुओं को तप, ब्रह्मचर्य और श्रद्धापूर्वक जीवन व्यतीत करने का आदेश देते हैं : **तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया संवत्सरं संवत्स्यथ।**[2] तैत्तिरीयोपनिषद् में अनेक बार तप का उल्लेख किया गया है और कहा गया है कि तप के द्वारा ब्रह्म के यथार्थ स्वरूप को जाना जा सकता है– **तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व।।**[3]

(झ) स्वाध्याय : व्यासभाष्य में दोनों स्थानों पर स्वाध्याय का अर्थ मोक्ष विषयक शास्त्रों का अध्ययन तथा प्रणव जप किया है। उपनिषदों में स्वाध्याय का विस्तृत अध्ययन मिलता है। तैत्तिरीयोपनिषद्–(1/10) में स्वाध्याय के साथ प्रवचन को जोड़कर इन दोनों को करना आवश्यक कर्त्तव्य बतलाया गया है। साथ ही योगदर्शन के समान ही प्रणव आदि के जप का विधान भी उपनिषदों में किया गया है।

(ञ) ईश्वरप्रणिधान : इसका स्वरूप ईशोपनिषद् में प्राप्त होता है। इसमें परमेश्वर के प्रति सभी कर्मों के अर्पण की बात तो नहीं कही गयी है। किन्तु यह अवश्य कहा गया है कि कर्म व्यक्ति को बाँधने वाले न हो।

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्।।[4]

इसी व्याख्या में यह भी कहा गया है कि निष्काम कर्म बन्धन का कारण नही बनते हैं। इसलिए निष्काम कर्म करने चाहिए। मुण्डकोपनिषद्

---

1. ईशोपनिषद्–1.1
2. प्रश्नोपनिषद्–1.2
3. तैत्तिरीयोपनिषद्–3.2
4. ईशोपनिषद 1–1

में कहा गया है कि यह आत्मा (ब्रह्म) जिसको स्वीकार कर लेता है, वही इसे प्राप्त कर सकता है।

यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष
आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्।[1]

उपनिषदों में प्राणायाम- उपनिषदों में प्राणसम्बन्धी वर्णन प्राप्त होता है, उसमें प्राणों का महत्त्व भली-भाँति प्रतिपादित किया गया है। छान्दोग्योपनिषद् में कहा गया है कि सभी भूत प्राण से ही उत्पन्न होते हैं तथा प्राणों में ही समाहित हो जाते हैं-**सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसंविशन्ति।**[2] तैत्तिरीयोपनिषद् में भी इसी प्राण से सब भूतों की उत्पत्ति, स्थिति एवं अन्त में विलय कही गई हैं। इसमें प्राण को ब्रह्म कहा गया है- **प्राणो ब्रह्म व्यजानात्।।**[3]

प्रश्नोपनिषद् में प्राण की उत्पत्ति आत्मा से बतलाते हुए प्राण के अन्य भेद व्यान, उदान समानादि का भी उल्लेख किया गया है। कठोपनिषद् में स्पष्ट रूप से प्राणायाम की क्रियाविधि बतायी गयी है। इसमें प्रथम प्राणायाम करते समय हृदय स्थान के प्राण वायु को ऊपर (ब्रह्माण्ड) ले जाकर स्थिर करना है तथा दूसरा प्राणायाम करते समय अपान वायु को नीचे की ओर धक्का दिया जाता है। नाभि तथा कण्ठ देश के मध्य हृदय स्थित जीवात्मा की समस्त इन्द्रियाँ उपासना करती हैं- **ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयत्यपानं प्रत्यगस्यति। मध्ये वामनमासीनं विश्वे देवा उपासते।।**[4]

उपनिषदों में प्रत्याहार- पतंजलि के अनुसार इन्द्रियों का अपने विषयों के साथ सम्बन्ध न होने पर चित्त के अनुसार होना प्रत्याहार कहलाता है। भोजवृत्ति के अनुसार विषयों के प्रति अभिमुख न होने पर इन्द्रियों का सम्बन्ध केवल चित्त से ही रहता है। इसलिए इन्द्रियाँ भी

1. मुण्डकोपनिषद्-3-2-3
2. छान्दो.-1.11.5
3. तैत्तिरी. 3.3
4. कठोप. 5.3

चित्त के स्वरूप का अनुकरण करती है- **स्वविषयासम्प्रयोगे चित्त-स्वरूपाऽनुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः॥**[1]

ईशोपनिषद् आदि प्रधान उपनिषदों में प्रत्याहार नाम की चर्चा नहीं मिलती है। किन्तु शाण्डिल्योपनिषद् में प्रत्याहार का विस्तार से वर्णन किया गया है। प्रत्याहार के पाँच भेद बतलाये गये हैं **: (1)** विषयों में विचरने वाले इन्द्रियों को बलपूर्वक रोकना प्रत्याहार कहलाता है। **(2)** इन्द्रियों से जो-जो देखा जाए, उसे आत्मा के रूप में देखा जाए, यह प्रत्याहार है। **(3)** नित्य तथा विहित कर्मों के फल त्याग को भी इस उपनिषद् में प्रत्याहार माना गया है। यह परिभाषा ईशोपनिषद् के दूसरे मन्त्र के अनुसार प्रतीत होती है; जिसमें कहा है :

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे।

(4) सभी विषयों से पराङ्मुख होना प्रत्याहार कहलाता है। यह परिभाषा योगसूत्र (2.54) **स्वविषयासम्प्रयोगे** के अनुसार ही प्रतीत होती है। **(5)** इस उपनिषद् में प्रत्याहार की एक अन्य अलग प्रकार से परिभाषा दी गयी है कि पैर, अंगूठा, जंघा, जानु आदि अठारह स्थानों में क्रमशः धारणा करना ही प्रत्याहार है। उपनिषद्कार की यह परिभाषा अन्यत्र कहीं भी प्राप्त नहीं होती। मण्डलब्राह्मणोपनिषद् में भी विषयों से इन्द्रियों को हटाना प्रत्याहार कहा गया है।

उपनिषदों में धारणा- धारणा को परिभाषित करते हुए पतंजलि ने कहा है कि चित्त को किसी देश विशेष में स्थिर करना धारणा है- **देशबन्धश्चित्तस्य धारणा।**[2] मण्डलब्राह्मणोपनिषद् के अनुसार धारणा, विषयों से हटाते हुए चित्त को चैतन्य में स्थिर करना है। धारणा के द्वारा मन स्थिरता को प्राप्त कर लेता है। उपनिषदों में धारणा का वर्णन ध्यान के प्रसंग में किया गया है। श्वेताश्वतरोपनिषद में स्पष्ट रूप से कहा गया है- **दुष्टाश्वयुक्तमिव वाहमेनं विद्वान् मनो धारयेताप्रमत्तः॥**[3]

1. यो. सू.-2/54
2. वही 3/1
3. श्वेताश्वतरोपनिषद्-2/9

विद्वान् पुरुष मन को उसी प्रकार धारण करे; जैसे कि दुष्ट घोड़े को वश में किया जाता है। ईशादि प्रधान उपनिषदों के अतिरिक्त अन्य उपनिषदों में भी धारणा का विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है। योगतत्त्वोपनिषद् में पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश– ये पाँचों धारणा के स्थल कहे हैं। किन्तु यहाँ पर स्वयं ही पृथ्वी आदि का अभिप्राय शरीर के ही विभिन्न अंग मानते हुए कहा गया है कि पैरों से जानुपर्यन्त भाग को पृथ्वी कहते हैं। जानु से पायुपर्यन्त भाग जलस्थान कहलाता है। पायु से हृदय तक का भाग अग्नि स्थान कहलाता है। हृदय से भ्रू तक का भाग वायु स्थान तथा भ्रू के प्रारम्भ से अन्त तक का भाग आकाश कहलाता है। इन स्थानों में धारणा करने से पृथ्वी, जल, अग्नि तथा वायु के संयोग से योगी की मृत्यु नहीं होती तथा वह आकाशगामिता को प्राप्त करता है। जाबालदर्शनोपनिषद् में भी धारणा के इसी प्रकार पाँच भेद करते हुए, उपर्युक्त पृथ्वी आदि पाँचों स्थानों में धारणा का विधान किया गया है। शाण्डिल्योपनिषद् में धारणा के तीन प्रकार कहे हैं– आत्मा में मन को लगाना, हृदय आकाश में बाह्याकाश को लगाना तथा पृथ्वी आदि पंचभूतों में पंचमूर्ति की धारणा करना बताया गया है।

उपनिषदों में ध्यान

जिस स्थान में धारणा की हुई है, उस स्थान में चित्त की एकतानता = एकाग्रता एक समान बनी रहे, वह ध्यान की स्थिति है : **तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्।**[1] ध्यान की स्थिति में चित्तवृत्तियाँ पूर्णतः निरुद्ध रहती है। तब केवल ध्याता, ध्यान और ध्येय का ही सूक्ष्म रूप में भान रहता है; अन्य का नहीं। मण्डलब्राह्मणोपनिषद् में भी इसी प्रकार चैतन्य में एकतानता को ध्यान कहा गया है– **सर्वशरीरेषु चैतन्यैकतानता ध्यानम्।**[2] ईशादि उपनिषदों तथा अन्य उपनिषदों में भी ध्यान का वर्णन विस्तार के साथ किया गया है। इनमें ध्यान के द्वारा आत्मदर्शन की बात कही गयी है। मुण्डकोपनिषद् में कहा गया है कि ज्ञानप्रसाद के द्वारा

1. योगसूत्र–3/2
2. मण्डलब्राह्मणोपनिषद्–347

विशुद्ध अन्तःकरण होकर ध्यान करते हुए आत्मा को देखे। उपनिषदों में प्रायः ओंकार ध्यान का विधान किया गया है। प्रश्नोपनिषद् में ओंकार के ध्यान के सम्बन्ध में ओंकार की एक, दो तथा तीन मात्राओं के ध्यान तथा उनके फलों का अलग-अलग वर्णन स्पष्टता के साथ उपलब्ध होता है। श्वेताश्वरोपनिषद् में ध्यान करने की विधि बतलाई गई है कि सिर, ग्रीवा तथा कमर को एक सीध में करके इन्द्रियों को हृदय में स्थापित करके ध्यान करे[1]-

ब्रह्मविद्योपनिषद् में ध्यान करने का स्थान भ्रूमध्य बतलाया गया है। योगशिखोपनिषद् में सुषुम्ना में ध्यान करने को सर्वश्रेष्ठ मानकर कहा गया है कि यह ध्यान हजारों अश्वमेधादि यज्ञों की अपेक्षा सर्वोत्तम है। योगतत्त्वोपनिषद् में ध्यान के दो भेद बतलाए हैं- सगुण और निर्गुण। प्राणायाम द्वारा प्राण को नियंत्रण कर अपने इष्टदेवता का ध्यान करना सगुण ध्यान कहलाता है। इस ध्यान द्वारा अणिमादि अष्ट सिद्धियाँ प्राप्त होती है। निर्गुण ध्यान के द्वारा समाधि की प्राप्ति होती है -

सगुणं ध्यानमेतस्मादणिमादिगुणप्रदम्।
निर्गुणध्यानयुक्तस्य समाधिश्च ततो भवेत्।।[2]

शाण्डिल्योपनिषद् में भी ध्यान के दो भेद बताते हुए कहा गया है कि मूर्ति के ध्यान को सगुण ध्यान तथा आत्मस्वरूप के दर्शन को निर्गुण ध्यान कहते हैं[3]-

उपनिषदों में समाधि- समाधि के स्वरूप के बारे में बताते हुए पतंजलि कहते हैं कि वह ध्यान ही केवल ध्येय के स्वरूप को प्रकाशित करने वाला अपने ध्यानात्मक स्वरूप से शून्य बना जैसा अर्थात् ज्ञानस्वरूप में गौण हुआ समाधि कहलाता है- **तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः।।**[4] अभिप्राय यह है कि ध्यान में ध्याता, ध्यान

1. श्वेताश्वतरोपनिषद् 2-8
2. योगतत्त्वोपनिषद् 106
3. शाण्डिल्योपनिषद् 1/71
4. योगसूत्र 3/3

तथा ध्येय इन तीनों की प्रतीति होती है; जबकि समाधि में केवल ध्येयमात्र की प्रतीति होती है योगतत्त्वोपनिषद् में समाधि को जीवात्मा तथा परमात्मा की साम्यावस्था कहा गया है। शण्डिल्योपनिषद् में कहा गया है कि यह त्रिपुटिरहित अवस्था ही समाधि है, जिसमें जीवात्मा एवं परमात्मा शुद्ध स्वरूप में रहते हैं। योगदर्शन में समाधि के दो भेद बताए गये हैं- सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात समाधि। सम्प्रज्ञात समाधि के चार भेद हैं-(1) वितर्कानुगत, (2) विचारानुगत, (3) आनन्दानुगत एवं (4) अस्मितानुगत। इनमें से वितर्कानुगत एवं विचारानुगत के दो-दो भेद बताए गये हैं सवितर्का व निर्वितर्का तथा सविचार व निर्विचारा।

अध्यात्मोपनिषद् में कहा गया है कि ध्याता तथा ध्यान को छोड़कर जब, चित्त वायु रहित स्थान में रखे हुए दीपक की भांति ध्येय मात्रपरायण हो, तब यह समाधि की स्थिति होती है। समाधि प्राप्त हो जाने पर पूर्वसंचित कर्मवासनायें नष्ट हो जाती हैं तब शुद्ध धर्म की वृद्धि होती है। यह समाधि हजारों अमृत वर्षा की भाँति धर्म का वर्षण करती है, समाधि से जीवनमुक्ति प्राप्त होती है। इसके अतिरिक्त उपनिषदों में योग की अनेक परिभाषाएं दी गई हैं। योगशिखोपनिषद् में योग की परिभाषा देते हुए कहा गया है-

योऽपानप्राणयोरैक्यं स्वरजोरेतसोस्तथा।
सूर्याचन्द्रमसोर्योगोद् जीवात्मपरमात्मनोः।।
एवं तु द्वन्द्वजालस्य संयोगो योग उच्यते।।[1]

अर्थात् प्राण और अपान की एकता सतरजरूपी कुण्डलिनी की शक्ति और स्वरेत रूपी आत्मतत्त्व का मिलन, सूर्य, स्वर व चन्द्रस्वर का मिलन एवं जीवात्मा व परमात्मा का मिलन योग है। इसी प्रकार कठोपनिषद् में योग की परिभाषा है-

यदा पंचावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह,
बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमां गतिम्।

1. योगशिखोपनिषद् 68/69 1-2

तां योगमिति मन्यते स्थिरामिन्द्रियधारणम्,
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ।।[1]

अर्थात् जब पाँचों इन्द्रियाँ मन के साथ स्थिर हो जाती हैं और बुद्धि में भी कोई चेष्टा नहीं करती, उस स्थिति को परमगति कहते हैं। इन्द्रियों की स्थिर धारणा योग की अवस्था है। इस स्थिति को प्राप्त हुआ योगी प्रमादरहित हो जाता है।

श्वेताश्वतर उपनिषद् में योगाभ्यास के लिए उपयुक्त स्थान का वर्णन करते हुए कहा गया है कि–

समे शुचौ शर्करावह्निबालुका–
विवर्जिते शब्दजलाश्रयादिभिः।
मनोऽनुकूले न तु चक्षुपीडने
गुहानिवाताश्रयणे प्रयोजयेत्।।[2]

अर्थात् योगाभ्यास के लिए समतल, शुचि, कंकर–पत्थर–रहित, आग व बालू से रहित या शब्द जलादि का जहाँ व्यवधान न हो। मन को प्रिय लगने वाला स्थान हो, जहाँ आँखों को पीड़ा देने वाली कोई वस्तु नहीं हो– ऐसा स्थान ही योगाभ्यास के लिए उपयुक्त स्थान होता है; क्योंकि ऐसे स्थान में योगाभ्यास करने से मन तीव्रता से स्थिर होता है। ऐसे स्थान पर योगसिद्धि शीघ्र प्राप्त होती है।

अमृतनादोपनिषद् में योग के अंगों का वर्णन करते हुए कहा गया है–

प्रत्याहारस्तथा ध्यानं प्राणायामोऽथ धारणा।
तर्कश्चैव समाधिश्च षडङ्गो योग उच्यते।।[3]

अर्थात् प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, प्राणायाम, तर्क और समाधि– यह षडङ्गयोग कहलाता है। अन्य एक उपनिषद् में आसन, प्राणायाम,

1. अमृतनादोपनिषद्–6
2. योगशिखोपनिषद्
3. अमृतनादोपनिषेत्–6

प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि-योग के ये छः अंग बताए गए हैं। इसके अतिरिक्त अष्टांग योग का भी उपनिषदों में विस्तृत वर्णन किया गया है।

योगशिखोपनिषद् में योग की विभिन्न पद्धतियों का वर्णन करते हुए कहा गया है-

मन्त्रो लयो हठो राजयोगान्ता भूमिकाः क्रमात्।
एक एव चतुर्धाऽयं महायोगोऽभिधीयते॥[1]

अर्थात् मन्त्रयोग, लययोग, हठयोग और राजयोग- ये चारों जो यथाक्रम चार भूमिकाएँ हैं। चारों मिलकर यह एक ही चतुर्विध योग हैं; जिसे महायोग कहते हैं।

उपनिषदों में मोक्षप्राप्ति के लिए ज्ञान के साथ-साथ योग को भी आवश्यक माना गया है। योगतत्त्वोपनिषद् में कहा गया है-

योगहीनं कथं ज्ञानं मोक्षदं भवति ध्रुवम्।
योगोऽपि ज्ञानहीनस्तु न क्षमो मोक्षकर्मणि॥[2]

अर्थात् योग के बिना ज्ञान निश्चय ही मोक्ष का देने वाला भला कैसे हो सकता है। उसी प्रकार ज्ञानहीन योग भी मोक्षकर्म में असमर्थ है। इसलिए मोक्ष की प्राप्ति के लिए ज्ञान और योग-दोनों का साथ-साथ होना आवश्यक है; क्योंकि योग के बिना शुद्ध ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो पाती है, और ज्ञान के बिना योग-साधनों का भी कोई महत्त्व नहीं है। उपनिषदों में इनके साथ-साथ शरीरस्थ नाड़ियाँ, वायु प्राण और मन सभी का वर्णन प्राप्त होता है। उपनिषदों में आत्मा के आवरण के रूप में पंचकोशों को बड़ा ही सुन्दर वर्णन किया गया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि योग के सभी अंगों का उपनिषदों में विस्तृत वर्णन किया गया है। योग को उपनिषदों में मनुष्य जीवन हेतु बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान किया गया है। योग के महत्त्व को दर्शाते हुए कठोपनिषद् में कहा गया है-

1. योगाशिखोपनिषद:- 1/129-30
2. योगतत्त्वोपनिषद् 12/10

तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणम्।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ।।[1]

अर्थात् इन्द्रियों की स्थिर धारणा अर्थात् उनके संयम को भी योग कहते हैं। इसके साधन को करने वाला साधक प्रमाद रहित हो जाता है और शुभ संस्कारों का उदय होने लगता है। योग के फल को बताते हुए श्वेताश्वतर उपनिषद् कहती है–

लघुत्वमारोग्यमलोलुपत्वं, वर्णप्रसादः स्वरसौष्ठवं च।
गन्धः शुभो मूत्रपुरीषमल्पं, योगप्रवृत्तिं प्रथमां वदन्ति।।[2]

अर्थात् योग सिद्ध हो जाने पर शरीर हल्का और निरोग हो जाता है। अलोलुपता प्राप्त होती है अर्थात् सभी विषयों के प्रति राग नहीं रहता। नेत्रों को आकर्षित करने वाली शरीर की कान्ति प्राप्ति हो जाती है। उसका स्वर मधुर हो जाता है, शरीर से दिव्य गन्ध आती है। शरीर में मलमूत्र की कमी होती है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में कहा गया है–

न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः।
प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम्।।[3]

अर्थात् योग की अग्नि से बना हुआ शरीर जिसे प्राप्त होता है, उसे कोई रोग नहीं होता है, न उसको बुढ़ापा आता है और मृत्यु भी नहीं होती है; अर्थात् मृत्युञ्जयी हो जाता है। उपनिषदों का पूर्णतया अध्ययन करने पर हम इसी निष्कर्ष पर आते हैं कि बिना यौगिक साधनों के सामाजिक, पारमार्थिक प्रवृति अधूरी ही रहती है। समग्र उपनिषदों में किसी-न-किसी योग का वर्णन किया गया है। उपनिषदों में साधनरूप के जो अनेक सिद्धान्त हैं, उन्हें किसी न किसी रूप में योग कहा जा सकता है। जैसे ज्ञानयोग, भक्तियोग, मन्त्रयोग, लययोग, क्रियायोग, ध्यानयोग, समाधियोग आदि, योगमार्ग ही भगवत्प्राप्ति का एक मार्ग है;

---

1. कठोपनिषद् 2/9/11
2. श्वेताश्वतरोपनिषद् 2/13
3. वही 2/22

क्योंकि यौगिक प्रक्रियाओं के अनुसार ही मन का निरोध सम्भव है। सभी प्रकार के साधनों में मन का निरोध निषेध है। अत: उपनिषदों का मुख्य तात्पर्य योगानुष्ठानपूर्वक, मोक्षप्राप्ति से ही है। ऐसा कोई भी मोक्षमार्ग नहीं है; जिसमें योगांगों की आवश्यकता न पड़ती हो। इसलिए उपनिषदों ने योग को मुख्य रूप से निरूपित किया। जिस प्रकार दूध में घृत समाया हुआ है, उसी प्रकार उपनिषदों में योगविद्या समाहित है। अत: कहा जा सकता है कि उपनिषद् ग्रन्थों का रचनाकाल, आधुनिक गणितज्ञों के गणित से ही अतिप्राचीन सिद्ध होता है।

आयुर्वेद में योग

आयुर्वेद की एक महती विशेषता यह है कि उसने दर्शनों के प्रतिपाद्य विषय आत्मा-मन और इन्द्रियों के अधिष्ठानभूत विषयों का सर्वांगपूर्ण विवेचनकर दार्शनिक सिद्धान्तों एवं उसकी उपयोगिता एवं सार्थकता को अपने में संजोया हुआ है। आयुर्वेद में मनोविज्ञान तथा आध्यात्मिक आदि विषयों की व्यापकता दिखायी देती है। मन और आत्मा के विषय में गम्भीर चिन्तन-मनन योगशास्त्र में प्राप्त होता हैं। मन और आत्मा सम्बन्धी कोई भी विषय आयुर्वेद से अछूता नहीं रहा है; क्योंकि योग और कैवल्य का सीधा सम्बन्ध मन और आत्मा से है। आयुर्वेदाचार्यों ने भारतीय दर्शनशास्त्र एवं अध्यात्मशास्त्र के महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों को आयुर्वेद में आत्मसात् किया है। योगशास्त्र अपने आप भी एक दार्शनिक एवं अध्यात्मविचार प्रधान शास्त्र है। इसलिए आयुर्वेद भी इसके द्वारा प्रभावित हुए बिना न रह सका। यही वजह है कि आयुर्वेद में योगशास्त्र के सिद्धान्त बीजरूप में दिखायी देते हैं।

योग का लक्षण-

आयुर्वेद में योग और मोक्ष को मन और आत्मा से सम्बन्धित मानते हुए पर्याप्त रूप से इनकी विवेचना की गई है। आयुर्वेद में अत्यन्त ही सुन्दर रूप से योग का लक्षण बतलाया है; जो इस तरह से हैं- आत्मा, इन्द्रिय, मन और इन्द्रियों के विषय के सन्निकर्ष से सुख

और दु:ख दोनों होते हैं। जब आत्मा में मन स्थिर होता है, तो मन के द्वारा कोई कार्य न होने से सुख और दु:ख दोनों निवृत्त हो जाते हैं; तब तन के साथ मन स्थिर होने से आत्मा नियंत्रित हो जाती हैं। ऐसे योग को जानने वाले (योगीजन) इसे योग कहते हैं। यहाँ पर महर्षि चरक ने आत्मा के साथ मन को नियंत्रण में करना ही योग का लक्षण माना है। यही मान्यता महर्षि पतञ्जलि की है। लोक में सब तरह के सुख एवं दु:ख का मूल कारण मन को माना गया है। मन बड़ा चंचल है, अहित विषयों में इन्द्रियों के माध्यम से मन की प्रवृत्ति होना दु:ख है और हित विषयों में प्रवृत्ति होना सुख का मूल कारण है। महर्षि चरक ने योग का स्वरूप लक्षण बतलाते हुए एक विशेष एवं महत्त्वपूवर्ण विवेचना की है कि योग में मात्र मन वशीभूत नहीं होता है। अपितु मन के साथ तन व समस्त इन्द्रियाँ भी नियन्त्रण में हो जाती हैं **(सशरीरस्य मनसः वशित्वं चोपजायते)** संसार की सब तरह की वेदनाओं का अधिष्ठान मन एवं इन्द्रिय शरीर होता है। यहाँ पर महर्षि चरक ने योगावस्था में मन और शरीर दोनों का नियंत्रण स्वीकार किया है। महर्षि चरक, चरक संहिता में चार प्रकार के योग का उल्लेख करते हैं –

सम्यक् योग अथवा समयोगः– समयानुसार मल आदि वेगों की निवृत्ति का होना, सामान्य कष्टानुभूति, समयानुसार वात पित्त कफ दोषों का प्रारम्भ एवं समाप्ति अर्थात् दोषों के ठीक होने पर वेगों का रुक जाना– यह संयुक्त योग के लक्षण बताए गए हैं। दोषों के प्रभावानुसार सम्यक् योग मृदु, मध्य एवं तीक्ष्ण तीन प्रकार का होता है।

अयोगः– किसी विशेष कारणवश वमन का आना अर्थात् वमन होना, वमन करने हेतू प्रदत औषधि का निकलना अथवा वमन वेग का टूट जाना या रुक जाना अयोग कहलाता है– **अप्रवृत्तिः कुतश्चित् केवलस्यावाऽप्यौषधस्य विभ्रंसो विबन्धो वेगानामयोगलक्षणानि भवन्ति।**[2]

अतियोगः– इसमें लारयुक्त लाल रक्त की कणिकाओं से युक्त वमन होता है अथवा रक्त भी निकल जाता है, तो अतियोग कहलाता है–

1. च.सं.सू. 15/13
2. वही 1/13 3

योगाधिक्ये तु फेनिलरक्तचन्द्रिकोषगमनमित्यतियोगलक्षणानि भवन्ति।[1]

हीनयोग या मिथ्यायोगः- दोषयुक्त, सड़ी-गली, अधिक समय तक रखी गयी, जली, सुखी, अधिक आर्द्र वस्तु आहार आदि का सेवन अथवा स्नान, वस्त्र आदि का ऋतु के विपरीत सेवन करने से रोग या व्याधि की सम्भावना रहती है।

आयुर्वेद में योग का वर्णन

चरक संहिता में योग को योगदर्शन में प्रतिपादित अष्टांग योग की तरह अष्ट भागों में विभाजित किया है। जिसमें आयुर्वेद का क्रमिक ज्ञान प्रतिपादित है। महर्षि पाणिनि कृत अष्टाध्यायी में भी चतुष्पाद वैदिक शैली उपलब्ध है ।चरक संहिता में भी इस शैली की छाया प्रदर्शित होती है। चरक ने मौलिक सिद्धांतों तथा काय चिकित्सा सिद्धांतों का विशेष रूप से प्रतिपादन किया तथा विशेष बल संशोधन चिकित्सा पर दिया है; दो स्वतंत्र स्थानों (कल्प और सिद्धि) में जिसका वर्णन मिलता है। अरिष्ट लक्षणों का इन्द्रिय स्थान में तथा दर्शन का प्रतिपादन प्रमुख रूप से शरीर स्थान में प्राप्त होता है। शरीर रचना का विषय गौण हो गया है इससे हमें स्पष्टतः ज्ञात होता है कि चरकसंहिता आयुर्वेद के मौलिक सिद्धांतों एवं काय चिकित्सा का प्रमुख उपजीव्य ग्रंथ है। आयुर्वेदिक संहिताएँ शारीरिक रोगों एवं उनके उपचार के साथ-साथ मनो-आध्यात्मिक भावों का भी ज्ञान प्रदान करती हैं।

आयुर्वेद में वर्णित यम-नियम, सदवृत्त : मन, वाणी और शरीर से किसी भी प्राणी को किसी प्रकार का दु:ख न देना अहिंसा कहलाता है। हिंसा तम का द्योतक है, यह अभिघात और प्रतिरोध को उत्पन्न करने वाला होता है। आयुर्वेद में उसे पापकर्म बताकर त्यागने के लिए कहा गया है। इसे सद्वृत्त के रूप में वर्णित किया गया है तथा रसायन सेवन से पूर्व भी एवं आचार रसायन के अन्तर्गत अहिंसा का वर्णन किया गया है।

---

1. च.सं.सू. 15/13

सत्यवादिनमक्रोधं निवृत्तं मद्यमैथुनात्।
अहिंसकमनायासं प्रशान्तं प्रियवादिनम्।।[1]

आयुर्वेद में आचार रसायन में सर्वप्रथम 'सत्यवादिनम्' ही कहा गया है अर्थात् सर्वदा सत्य बोलना चाहिए। दसवृत्त में झूठ न बोलने के लिए कहा गया है- नानृतं ब्रूयात्।

अस्तेय का अर्थ होता है- चोरी न करना। जब व्यक्ति में चोरी के अभाव अर्थात् चोरी न करने की प्रवृत्ति जागृत हो जाती है, तब उसके सामने समस्त रत्न स्वयं प्रकट होने लगते हैं। **अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम्।**[2]

आचार्य वाग्भट्ट ने स्तेय को दशविध पापकर्म के अन्तर्गत बताया है और शरीर, मन एवं वाणी से त्यागने के लिए कहा गया है। जीवन के तीन उपस्तम्भों में ब्रह्मचर्य की गणना की गई है। आचाररसायन में मद्य एवं मैथुन से निवृत्त रहने के लिए बताया गया है। ज्वरचिकित्सा में आचार्य चरक ने कहा है कि ब्रह्मचर्य के द्वारा ज्वर से छुटकारा मिलता है **: ब्रह्मचर्येण ज्वरात् प्रमुच्यते।**[3] योगसूत्र में कहा गया है कि ब्रह्मचर्य पर दृढ होने पर वीर्य लाभ एवं अपूर्व शक्ति का प्रादुर्भाव होता है। **ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः।**[4] जीवन में सदैव स्वस्थ रहने के लिए मनुष्य को मन, वचन तथा कर्म की पवित्रता आवश्यक होती है। अतः प्रत्येक मनुष्य के लिए स्वस्थ व्रत के पालन का उपदेश चरक ने किया है। चरक का वचन है कि सौम्य बुद्धि, मधुर वचन, सुखकारक कर्म, निर्मल तथा पापरहित बुद्धि, विवेक, तप तथा यम-नियम प्राणायाम आदि योग का सदैव सेवन करने वाले मनुष्य को किसी भी शारीरिक तथा मानसिक रोग से कष्ट नहीं होता।

शौच- चिकित्सा चतुष्पाद के सन्दर्भ में आचार्य चरक ने उत्तम

---

1. च.चि. 1/4/30
2. यो.सू. 2/37
3. च.चि. 3
4. यो.सू. 2/38

वैद्य के चार गुणों में शौच को एक प्रधान गुण माना है। शौच से कायिक, वाचिक एवं मानसिक शुद्धता का अभिप्राय है। आयुर्वेदशास्त्र में भी दो प्रकार के शुद्धि का वर्णन किया गया है। इन्हें योगीजन बाह्य शौच एवं आन्तरिक शौच के नाम से ग्रहण करते हैं। आयुर्वेद में बाह्य शुद्धि के लिए अंग प्रक्षालन, स्नान, दन्तधावन, कवलग्रह, गण्डुष आदि कर्म बताए गए हैं और आभ्यन्तर शुद्धि सामाजिक एवं मानसिक स्तर, धी-स्मृति का ज्ञान, व्यवहार आदि से लेते हैं।

सन्तोष- लौल्य को कष्ट उत्पन्न करने वालों में श्रेष्ठ कहा गया है **: लौल्यं क्लेशकराणां श्रेष्ठम्।**[1] यह सन्तोषवृत्ति का विपरीतार्थक है। उसे धारणीय वेगों की गणना में भी गिना गया है। योगसूत्र में लोल्य के विपरीत भाव सन्तोष को सर्वोत्तम सुख की संज्ञा दी गई है **: सन्तोषादनुत्तम-सुखलाभः।**[2] आयुर्वेद में आचाररसायन के अन्तर्गत कहा गया है कि प्रतिदिन जप, शौच, दान एवं तपस्या करनी चाहिए तथा देवता, गौ, ब्राह्मण, आचार्य एवं गुरु की सेवा में रत रहना चाहिए।

जपशौचपरं धीरं दाननित्यं तपस्विनम्।
देवगोब्राह्मणाचार्यगुरुवृद्धार्चने रतम्।।[3]

सुसाहित्य एवं आध्यात्मिक ग्रन्थों का अध्ययन स्वाध्याय है। ईश्वर की शरणागति से योगसाधन में आने वाले विघ्नों का नाश होकर शीघ्र ही समाधि निष्पन्न हो जाती है **: समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्।**[4] आयुर्वेद में मानस दोष चिकित्सा के रूप में, ईश्वर का ध्यान पूजा-पाठ बताया गया है। ज्वरादि की चिकित्सा में विष्णुसहस्रनाम जप आदि बताया गया है।

सामयिक सद्वृत्त : देवता, गौ, वृद्ध, ब्राह्मण, गुरु, सिद्धाचार्यों को नमस्कार, अग्निहोत्र सेवन, प्रशस्त एवं अनुभूत औषध सेवन, दोनों समय

1. च.सू. 25
2. यो.सू. 2/42
3. च.चि. 1/4/31
4. यो.सू. 2/45

स्नान, नेत्रादि इन्द्रियों की प्रतिदिन प्रातः सायं शुद्धि, केश, नख, दाढी आदि का समयानुसार संमार्जन, प्रतिदिन धुले हुए सुगन्धित वस्त्रों को धारण करना, सुगन्धित पदार्थों का अनुलेपन, केशों का प्रसाधन, सिर, कान, नाक, पाद आदि में तैल मर्दन, दीनदुःखी की सहायता, निश्चिन्त, निडर, बुद्धिमान, लज्जाशील, चतुर, धर्मपरायण, आस्तिक, सर्वप्राणियों को बन्धुतुल्य मानना, क्रुद्ध व्यक्तियों को नम्रता से शान्त करना, भयभीतों को आश्वासन देना, दीनों का उद्धार करना, सत्यवादी, शान्त, दूसरों के कठोर वचनों को सहन करने वाला, क्रोध को नाश करने वाला, शान्ति को गुण समझने वाला, राग-द्वेष के मानसिक विकारों का विनाश करने वाला होना चाहिए।

व्यहारिक सदवृत्त : बुद्धिमान् पुरुषों की सम्मति द्वारा निर्धारित नियमों का त्याग न करे, नियमों का उल्लंघन न करे, रात्रि में या अपरिचित स्थान में भ्रमण न करे, प्रातः एवं सायं सन्ध्याकाल में भोजन, अध्ययन, शयन या स्त्री सहवास न करे, बालक, वृद्ध, रोगी, मूर्ख, क्लेशयुक्त जीवनयापन करने वालों तथा नपुंसकों के साथ मित्रता न करे, मद्यसेवन, जुआ खेलना, वेश्यागमन आदि की इच्छा न करे, किसी की गुप्तवार्ता की व्याख्या न करें, किसी का अपमान न करे, अभिमान का त्याग करे, कार्यकुशल, उदार, असूयारहित ब्राह्मणों का सम्मान करने वाला होवे, वृद्ध, गुरुजन, गण, राजा आदि का अपमान या आक्षेप न करे, बन्धुबान्धव, मित्रवर्ग, आपत्तिकाल में सहायक तथा गोपनीय रहस्यों को जानने वाले लोगों को सदा सम्पर्क में रखे- **न स्त्रियमवजानीत् नातिविश्रम्येत् द्रष्टत्य गच्छेत्।**[1]

आयुर्वेद में वर्णित प्राणायाम

आयुर्वेद में वायु को 'प्राण' संज्ञा प्रदान की गई है। प्राणवायु का शरीर में प्रविष्ट होना श्वास और बाहर निकलना प्रश्वास है। इन दोनों का विच्छेद होना अर्थात् श्वास-प्रश्वास क्रिया का बन्द होना प्राणायाम का सामान्य लक्षण है। **तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिर्विच्छेदः**

1. चरकसूत्र 8/22

प्राणायामः।[1] आयुर्वेद में वायु को 'आयु' कहा गया है तथा वायु के द्वारा ही प्राणायाम निमेषादि क्रियाएँ सम्पन्न होती हैं- **वायुः प्राणसंज्ञाप्रदानम्, वायुः आयुः, वायुः प्राणापानौ, प्राणो रक्ष्यश्चतुर्थो हि प्राणान् जहाति।**[2] वायु प्राणायाम क्रिया का सम्पादन कराता है परन्तु योगोक्त प्राणायाम इस वायु की क्रिया से भिन्न है, वहाँ इस वायु की क्रिया पर नियन्त्रण प्राणायाम कहा गया है। आयुर्वेद में वायु यन्त्र-तन्त्र को धारण करने वाली कही गयी है। प्राण, उदान, व्यान, समान और अपान को आत्मा का रूप कहा गया है तथा यही शरीर की सभी चेष्टाओं का नियन्त्रण एवं प्रणयन करती है। सभी इन्द्रियों को अपने विषयों में प्रवृत्त करने वाली भी यही है- **वायुस्तन्त्रयन्त्रधरः प्राणोदानसमानव्यानापानात्मा, प्रवर्तकश्चेष्टानामुच्चावचानां नियन्ता, प्रणेता च मनसः सर्वेन्द्रियाणा-मुद्योजकः।**[3] इस प्रकार वायु को शरीर एवं शरीरावयव को धारण करने वाली, चेष्टा-गति आदि का नियन्त्रण एवं प्रणयन करने वाली कहा गया है और इसी वायु की गति पर नियन्त्रण 'प्राणायाम' शब्द से जाना जाता है।

आयुर्वेद में वर्णित ध्यान एवं समाधि

आयुर्वेद में मानस दोष की चिकित्सा के लिए धारणा, ध्यान एवं समाधि को दूसरे रूप में कहा है। आचार्य चरक ने मानस रोगों का चिकित्सासूत्र बताते समय समाधि का उल्लेख किया है। समाधि के पहले आचार्य ने ज्ञान-विज्ञान-धैर्य एवं स्मृति का उल्लेख किया है-

मानसो ज्ञानविज्ञानधैर्यस्मृतिसमाधिभिः।[4]

दूसरे स्थान पर आचार्य चरक ने कहा है कि मानस रोग उपस्थित होने पर धर्म-अर्थ एवं काम का ध्यान करना चाहिए तथा आत्मा आदि

---

1. यो.सू. 2/49
2. च.सू. 12/2
3. वही 12/8
4. वही 1/58

का ज्ञान अर्थात् धारणा करनी चाहिए।

मानसं प्रति भैषज्यं त्रिवर्गस्यान्ववेक्षणम्।
तद्विधसेवाविज्ञानमात्मादीनां च सर्वशः।।[1]

दूसरे आचार्यों ने भी धी-धृति एवं आत्मा के ज्ञान को मानस दोष की चिकित्सा के लिए उत्कृष्ट औषधि बताया है। इस प्रकार आयुर्वेद में धारणा-ध्यान का धी-धृति आत्मा में चित्त को लगाने के रूप में इनका ज्ञान करने के रूप में कहा गया है तथा समाधि को उसी रूप में उसी शब्द से ग्रहण किया है।

आयुर्वेद में कर्म निरूपण

कर्म योग का एक महत्त्वपूर्ण एवं अनिवार्य अंग है। महर्षि पतंजलि ने योगदर्शन में इसकी पर्याप्त चर्चा की है। योगियों के कर्म अशुक्ल-अकृष्ण अर्थात् निष्काम शुभ कर्म होते है और अन्यों के सकाम शुभ, अशुभ एवं मिश्रित तीन प्रकार के होते हैं- **कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम्।**[2] चरकशास्त्र के अनुसार इहलौकिक और पारलौकिक-दोनों प्रकार के कर्मों के तीन भेद हैं; जो इस प्रकार है।

1. सत्प्रत्ययः- जो कर्म ज्ञानपूर्वक चेष्टा द्वारा किया जाए, वह सत्प्रत्यय कहलाता है; जैसे-हाथ हिलाना, ऊपर-नीचे करना होता है।

2. असत्प्रत्ययः- जो कर्म बिना ज्ञानपूर्वक होता है, वह असत्प्रत्यय कर्म कहलाता है। जैसे नेत्र की पलकों को उठाना, गिराना, शरीर में रोमांच होना, हृदय की धड़कन आदि।

3. अप्रत्ययः- अचेतन पदार्थों वृक्षादि में ऋतु अनुसार नये पत्तों का निकलना, पुष्पोद्गम, फल बीज की प्राप्ति, पतझड़ आदि। नोदन, गुरुत्व और वेग-ये तीन अप्रत्यय है। पारलौकिक कर्म के तीन भेद हैं- **बलाबलविशेषोस्ति तयोरपि च कर्मणोः। दृष्टं हि त्रिविधं कर्महीनं मध्यममुत्तमम्।।**[1]

---

1. च.सू. 11/47
2. यो.सू. 4/7

1. हीनकर्म- अधोगति में ले जाने वाले अशुभ कर्मों को हीन कर्म कहते हैं। यथा-असत्यभाषण, परस्त्री गमन आदि।

2. उत्तमकर्म- उत्तम लोकों में ले जाने वाले शुभ कर्मों को उत्तम कर्म कहते हैं। यथा-सत्यभाषण, परोपकार आदि उत्तम कर्म हैं।

3. मध्यमकर्म- मिश्रित फल वाले कर्म को मध्यम कर्म कहते हैं। यथा- कर्मकाण्ड, अग्निहोत्र, धन लेकर विद्याध्ययन करना, स्वास्थ्य लाभ के लिए औषधि निर्माण करना मध्यम कर्म है; क्योंकि यह कर्म करने से देवता संतुष्ट होते हैं। इसलिए उत्तम लोकों की प्राप्ति कराने के कारण अग्निहोत्र भी सुख देता है।

आयुर्वेद में पंचकर्म

चरकसूत्रसंहिता में शरीर में उपस्थित वात-पित्त-कफ दोषों का संतुलन बनाए रखने तथा शोधन के लिए पंचकर्म (स्नेहन-स्वेदन-वमन विरेचन-वस्ति) का विवेचन किया गया है।

तान्युपस्थितदोषाणां स्नेहस्वेददोषषादनैः।
पञ्चकर्माणि कुर्वीत मात्राकालौ विचारयन्।[2]

आयुर्वेद में पंचकर्म वमन, विरेचन, स्वेदन, निरहण और नस्य हैं। दूसरे प्रकार से तीन कर्म 1. पूर्वकर्म, 2. प्रधानकर्म तथा 3. पश्चात् कर्म है। चरकसंहिता में विमानस्थान में कर्म का स्वरूप इस प्रकार स्पष्ट किया है।

समवायोऽपृथग्भावो भूम्यादीनां गुणैर्मतः।
स नित्यो यत्र हि द्रव्यं न तत्राभिमतो गुणः॥[3]

भूमि आदि द्रव्यों का अपने गुणों के साथ अपृथक् भाव ही समवाय है। यह समवाय नित्य है; क्योंकि जहाँ द्रव्य रहता है, वहाँ गुण की अनिश्चितता नहीं रहती। अर्थात् समवायिकारण रूप द्रव्य के आश्रित

---

1. चरकविमान 3/31
2. वही 2/15
3. वही 8/50

तथा गुणों से सम्बद्ध क्रिया, चेष्टा कर्म कहलाता है। कर्म का लक्षण चरक ने इस प्रकार किया है कि द्रव्यों के संयोग और विभाग में कर्म ही कारण है, वह कर्म द्रव्य में आश्रित रहता है। कर्त्तव्य की क्रिया को ही कर्म कहा जाता है। संयोग और विभाग के लिए कर्म के सिवा किसी अन्य साधन की अपेक्षा नहीं रह जाती– **संयोगे च विभागे च कारणं द्रव्यमाश्रितम्। कर्त्तव्यस्य क्रिया कर्म कर्म नान्यदपेक्षते।।**[1]

पंचकर्म : पंचकर्म–चिकित्सा आयुर्वेदीय चिकित्सा का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंग हैं। 'पंचकर्म' शब्द से ही इसका अर्थ स्पष्ट है कि ये पाँच प्रकार के विशेष कर्म हैं; जो शरीर से मलों व दोषों को बाहर निकालते हैं। इस चिकित्सा से पूर्व जिन कर्मों को किया जाता है, उन्हें पूर्व कर्म कहा जाता है। ये पाँच कर्म निम्नलिखित है:

1. वमन (Emetic therapy)
2. विरेचन (Purgative therapy)
3. नस्य (Inhalation therapy or Errhine)
4. अनुवासन वस्ति (A type of enema)
5. निरूह वस्ति (Another type of enema)

सुश्रुत आदि कुछ विद्वानों ने नस्य के स्थान पर रक्तमोक्षण (Blood letting therapy) को पंचकर्म में गिना है। हालांकि इन सभी कर्मों को करने से पहले यह देखना बहुत जरूरी है कि आप शारीरिक और मानसिक रूप से उस योग्य हैं या नहीं। अगर आप उस योग्य नहीं हैं, तो फायदे की बजाय नुकसान हो सकता है।

वमन (Emetic therapy) : इस चिकित्सा में उल्टी (Vomiting) लाने वाली औषधियों का प्रयोग करके आमाशय की शुद्धि की जाती है, इसे वमनकर्म कहते हैं। अधिक गर्मी व सर्दी वाले मौसम में यह क्रिया नहीं की जाती है। इस क्रिया का मुख्य उद्देश्य शरीर में जमे हुए कफ को उल्टी के माध्यम से बाहर निकालना है। अगर आप उल्टी से घबराते हैं या आपको उल्टी बहुत मुश्किल से होती है, तो यह क्रिया

1. च.सं.सू. 1/52

ना कराएँ। मोतियाबिन्द, पेट में कीड़े या पीलिया से पीड़ित मरीज भी इस क्रिया को ना करें।

विरेचन (Purgation therapy) : जब आँतों में स्थित मल पदार्थ को गुदा द्वार से बाहर निकालने के लिए औषधियों का प्रयोग किया जाता है, तो इस क्रिया को विरेचन कहते हैं। यह एक महत्त्वपूर्ण संशोधन (Purgation) क्रिया है। इसका प्रयोग सामान्यत: सर्दियों के मौसम में किया जाता है। लेकिन अगर कोई गंभीर रोग है, तो इसे किसी भी सीजन में किया जा सकता है।

नस्य कर्म अथवा शिरोविरेचन (Inhalation therapy) : सिर, आँख, नाक, कान व गले के रोगों में जो चिकित्सा नाक द्वारा ली जाती है; उसे नस्य या शिरोविरेचन कहते हैं। इस प्रक्रिया के तहत भी कफ को बाहर निकाला जाता है। नस्य कर्म के मुख्यत: दो प्रकार हैं- रेचन अथवा कर्षण नस्य - इसके लिए तीक्ष्ण प्रभाव वाले तेलों अथवा तीक्ष्ण औषधियों के रस या क्वाथ से पकाये गये तेलों का प्रयोग किया जाता है। इसके अतिरिक्त औषधियों के रस या चूर्ण का प्रयोग भी किया जाता है।

अनुवासन बस्ति (A type of enema) : गुदामार्ग में कोई भी औषधि डालने की प्रक्रिया बस्ति कर्म कहलाती है। जिस बस्ति कर्म में केवल घी, तैल या अन्य चिकनाई युक्त द्रव्यों का अधिक मात्रा में प्रयोग किया जाता है; उसे अनुवासन अथवा स्नेहन बस्ति कहा जाता है।

निरूह बस्ति (Another type of enema) : जिस बस्ति कर्म में कोष्ठ (आमाशय में जमे मल) की शुद्धि के लिए औषधियों के क्वाथ, दूध और तेल का प्रयोग किया जाता है; उसे निरूह बस्ति कहते हैं। यह बस्ति शरीर में सभी धातुओं और दोषों को संतुलित अवस्था में लाने में मदद करती है।

निरूह बस्ति गुणों के आधार पर अनेक प्रकार की है। जैसे कि दीपन बस्ति, लेखन बस्ति, बृंहण बस्ति, पिच्छिल बस्ति, सिद्ध बस्ति, युक्तरसा बस्ति आदि। इन सबका प्रयोग रोग व रोगी की प्रकृति के अनुसार ही किया जाता है। यहाँ सामान्य रूप से निरूह बस्ति का

परिचय दिया जा रहा है।

रक्तमोक्षण (Blood&Letting) : आयुर्वेद में रक्त को एक महत्त्वपूर्ण धातु माना गया है। रक्त के प्रदूषित होने पर हमारे शरीर में कई बीमारियाँ पनपने लगती हैं। इसलिए ऐसे रोगों के इलाज में प्रदूषित रक्त को शरीर से बाहर निकालना जरूरी हो जाता है। शरीर से प्रदूषित या संक्रमित रक्त निकालकर इलाज करने की यह प्रक्रिया ही रक्तमोक्षण कहलाती है।

शरीर से खून निकालने की यह प्रक्रिया दो तरीकों से की जाती है–

1. किसी औजार द्वारा खून निकालना– इसके अंतर्गत भी दो विधियाँ हैं। पहली विधि में प्रदूषित रक्त वाली जगह पर चीरा लगाकर इलाज किया जाता है। जबकि दूसरी विधि का इस्तेमाल तब होता है, जब दूषित रक्त पूरे शरीर में फैल जाता है।
2. बिना औजार के खून निकालना–आयुर्वेद में बिना औजार के खून निकालने की भी कई विधियाँ बताई गयी हैं। जिनमें जोंक द्वारा खून निकालना, श्रृंग, अलाबु और घंटी यंत्र द्वारा खून निकालना प्रमुख हैं; इनमें से प्रत्येक विधि का इस्तेमाल कुछ खास बीमारियों में रक्त निकालने के लिए किया जाता है।

आयुर्वेद में प्रमाण

चरकशास्त्र में चार प्रकार के प्रमाणों का वर्णन मिलता है; जो इस प्रकार है : 1. आप्तोदेश, 2. प्रत्यक्ष, 3. अनुमान, 4. युक्तिप्रमाण।

द्विविधमेव खलु सर्वं सच्चासच्च।
तस्य चतुर्विधा परीक्षा युक्तिश्चेति।।[1]

चरक ने रोग-विशेष के ज्ञान हेतु आप्तोपदेश, प्रत्यक्ष तथा अनुमान का स्मरण किया है।

आयुर्वेद में पुरुष निरूपण– आयुर्वेद में चौबीस तत्त्वात्मक पुरुष को मानव की इकाई स्वीकार किया गया है ओर इसी को

1. च.सू. 11/17

चिकित्साशास्त्र का कर्मक्षेत्र माना गया है। मन, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच इन्द्रियार्थ, अव्यक्त, महत् तत्त्व, अहंकार और पंचमहाभूत- ये चौबीस तत्त्व मिलकर पुरुष की सृष्टि करते हैं। इसके अतिरिक्त पुरुष की षड्धात्वात्मक (पंचमहाभूत+अव्यक्त ब्रह्म) तथा धात्वात्मक (केवल एक मात्र चैतन्य युक्त अर्थात् परमात्म तत्त्व पुरुष) अवधारणा भी संदर्भ भेद से उपस्थित की जाती है।

खादयश्चेतना षष्ठा धातवः पुरुषः स्मृतः।
चेतनाधातुरप्येकः स्मृतः पुरुषसंज्ञकः॥
पुनश्च धातुभेदेन चतुर्विंशतिकः मनो।
दशेन्द्रियान्यार्थाः प्रकृतिश्चाष्टधातुकि॥[1]

परन्तु आयुर्वेद में सर्वात्मना मान्य पुरुष चतुर्विशति तत्त्वात्मक राशिपुरुष ही है **: चतुर्विंशतिको ह्येष राशिः पुरुषसंज्ञकः।**[2]

आत्माः- महर्षि पतंजलि के अनुसार प्राकृतिक पदार्थों के सम्मिश्रण तथा अज्ञान-अधर्म-विकारादि दोषों से रहित होता हुआ भी चित्त की वृत्तियों के अनुसार देखने वाला चेतन पदार्थ जीवात्मा है **: द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः।**[3] आयुर्वेद के प्रकाण्ड मनीषि महर्षि चरक ने आत्मा को अव्यक्त, क्षेत्रज्ञ, शाश्वत, विभु तथा अव्यय बताया है। यह आत्मतत्त्व निर्विकार है; परन्तु चेतन है, नित्य है, दर्शक, क्षेत्रज्ञ एवं कर्ता है। यही साक्षी, चेतन, पुद्गल आदि नामों से जाना जाता है।

निर्विकारः परस्त्वात्मा सत्वभूतगुणेन्द्रियैः।
चैतन्ये कारणं नित्यो दृष्टा पश्यति हि क्रियाः॥[4]

इस प्रकार जीव में परमतत्त्व आत्मा का निवास है; जिसका साक्षात्कार योगसाधना द्वारा सम्भव है।

1. च.शा. 1/16-17
2. वही 1/35
3. यो.सू. 2/20
4. च.सू. 1/55

ईश्वर निरूपण- चरकसंहिता चिकित्साशास्त्र का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें 'ईश्वर' शब्द का केवल दो स्थानों पर प्रयोग हुआ है, वह भी परमात्मा या जगन्नियन्ता के रूप में ईश्वर शब्द का प्रयोग न होकर राजा, समर्थ या ऐश्वर्यशाली के रूप में किया गया है।

ईश्वराणां वसुमतां वमनं सविरेचनम्।[1]
या पुनरीश्वराणां वसुमतां वासकांशात्।[2]

चरकसंहिता के अन्य स्थानों में भी 'ब्रह्म' शब्द का प्रयोग जगन्नियन्ता के रूप में उपलब्ध होता है। वहाँ भी तुलनात्मक दृष्टि से कहा गया है कि जिस प्रकार लोक में ब्रह्म व्याप्त है, उसी प्रकार शरीर में अन्तरात्मा की विभूति विराजमान है : **ब्रह्म अन्तरात्मा**॥[3]

आयुर्वेद का अथर्ववेद के उपवेद के रूप में उल्लेख किया गया है। महर्षि चरक द्वारा प्रार्थना, उपासना, नमन, भगवद्दर्शन तथा प्रभुनाम कीर्तन आदि परमात्मा सम्बन्धी नियमों के विधान का उल्लेख करने में ईश्वर-संबन्धी निष्ठा का स्वयमेव प्रदर्शन हो जाता है। वेदों में रोगनिवारण हेतु ईश्वर-प्रार्थना, यज्ञ तथा प्रभु चिन्तन आदि का निर्देश युक्तिसंगत है। इसी कारण आयुर्वेद के ग्रन्थों में ईश्वराराधना को गम्भीरता के साथ स्वीकार किया गया है। चरक ने अव्यक्त के रूप में कर्ता, विश्वकर्ता, ब्रह्मा आदि शब्दों का प्रयोग ईश्वरवाची रूप में प्रयोग किया है। उसने निर्विकार परमात्मा का भी वर्णन किया है : **निर्विकारः परस्त्वात्मा।**[4] चरक का 'पुरुष' शब्द व्यापक अर्थ वाला प्रतीत होता है; जिसने कुछ सीमा तक ईश्वर को भी इसमें समेट लिया है। ऐसा प्रतीत होता है कि चरक के समय में ईश्वर शब्द का प्रयोग परमेश्वर या जगन्नियन्ता अर्थ में प्रयुक्त नहीं होता था। योगसूत्र में ईश्वर के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा है कि अविद्यादि पाँचों क्लेश, शुभाशुभ-मिश्रित विविध कर्म,

---

1. च.सू.15/23
2. वही 30/29
3. वही 5/5
4. वही 1/56

कर्मों के फल सुख-दु:ख, इनके भोगों के संस्कार-वासनाएँ इन सबके सम्बन्ध से रहित जीवों से भिन्न स्वभाव वाला चेतन विशेष ईश्वर है : **क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः।**[1]

मोक्ष निरूपण

आयुर्वेद के प्रमुख आचार्य चरक ने मोक्ष के स्वरूप का वर्णन करते हुए लिखा है कि मन में जब रजस् और तमोगुण का अभाव होता है तथा बलवान् कर्मों का क्षय हो जाता है, तब कर्मजन्य बन्धनों से वियोग हो जाता है। उसे अपुनर्भव या मोक्ष कहते हैं।

मोक्षो रजस्तमोऽभावात् बलवत्
कर्मसंक्षयात् वियोगः सर्वयोगैरपुनर्भुवः।[2]

इसी प्रकार एक अन्य स्थान में इसका वर्णन करते हुए उन्होंने लिखा है कि महापुरुषों की सेवा, यम-नियमों का पालन, चान्द्रायण आदि व्रतों का सेवन, आत्मशुद्धि हेतु उपवास, धर्मशास्त्रों का अध्ययन, कामक्रोधादि का त्याग, दुष्टजनों की उपेक्षा, पुनर्जन्म या इस जन्म में किये गये कर्मों का क्षय, आश्रमों से दूर रहकर कर्मफल हेतु कर्मों का त्याग, आत्मा और शरीर के संयोग से भयभीत होना तथा बुद्धि को समाधिस्थ करने का प्रयास आदि से मोक्षप्राप्ति संभव है।

सतामुपासनं सम्यगसतां तु विवर्जनम्।
व्रताचार्योपवासञ्च नियमाश्च पृथग्विधाः॥
धारणं धर्मशास्त्राणां विज्ञानविजने रतिः।
विषयेष्वरतिर्मोक्षे व्यवसायः परा धृतिः॥[3]

चरक का मत है कि सभी कारण बाह्यकार्य दु:खहेतु है। ये आत्मा से सम्बद्ध कार्य नहीं है, यह कार्यशून्य है और अनित्य है। आत्मा उदासीन है, अत: वे कार्य आत्मा द्वारा सम्पन्न न होकर प्रकृति के

---

1. यो.सू. 1/24
2. च.सं.शा. 1/42
3. वही 1/145-146

स्वभाववश स्वत: होते रहते हैं। सत्यबुद्धि की उत्पत्ति तक यह भ्रम बना रहता है। यह 'मैं'-ऐसी अहंकारबुद्धि और 'मेरा'-यह ममत्वबुद्धि प्रकृति (माया) का प्रपंच है। जब तक इसका नाश नहीं होता, तब तक जीवात्मा बन्धन में फँसा रहता है। तथा जब आत्मा सभी तत्त्वों को स्मृति द्वारा जान लेता है अर्थात् सांसारिक प्रपंचों का उसे यथार्थ ज्ञान हो जाता है-

स्मृतिः सत्सम्बन्धाद्यैश्च धृत्यन्ते रूप जायते।
स्मृत्वा स्वाभावभावानां विस्मरणं दु:खात् प्रमुच्यते।।[1]

वही जीवात्मा तत्त्वज्ञान द्वारा कर्मबन्धन तथा क्लेशादि से मुक्ति प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि आयुर्वेद में भी योग तत्त्वों का वर्णन अवश्य किया गया है। आयुर्वेद और योग- दोनों का एक ही लक्ष्य मनुष्य के वर्तमान जीवन को सुखमय बनाते हुए उसे मोक्ष की प्राप्ति तक ले जाना है।

1. च.सं.शा. 1/147

द्वितीय अध्याय

योग का महत्त्व

प्राचीनकाल मे योगविद्या ब्रह्मचारियों, मुनियों, साधुओं और संन्यासियों या मोक्षमार्ग के साधकों के लिए ही समझी जाती थी तथा योगाभ्यास के लिए साधक घर को त्याग कर वनों, जंगलों और पर्वतों पर जाकर एकांत में वास कर, साधना करते थे; इसी कारण योगसाधना को बहुत ही दुर्लभ माना जाता था; जिससे लोगों में यह धारणा बन गयी थी कि यह योग सामाजिक व्यक्तियों के लिए नहीं है। फलस्वरूप यह योगविद्या धीरे-धीरे लुप्त होती गयी। योग की लोकप्रियता और महत्त्व के विषय में हज़ारों वर्ष पूर्व ही योगशिखोपनिषद् में कहा गया-

योगात्परतरं पुण्यं योगात्परतरं शिवम्।
योगात्परतरां शक्तिं योगात्परतरं न हि।।

अर्थात् योग के समान कोई पुण्य नहीं, योग के समान कोई कल्याणकारी नही, योग के समान कोई शक्ति नही और योग से बढ़कर कुछ भी नहीं है। वास्तव में योग ही जीवन का सबसे बड़ा आश्रय है। गोरख संहिता मे भी योग अध्ययन के उद्देश्य को समझाते हुए मनीषियों ने कहा है, कि-

द्विजसेवितशाखायाः श्रुतिकल्पतरोः फलम्।
शमनं भवतापस्य योगं भजत सत्तमाः।।

अर्थात् वेदरूपी कल्प वृक्ष के फल इस योग शास्त्र का सेवन करो; जिसकी शाखा मुनिजनों से सेवित है और यह संसार के तीन प्रकार के तापों का शमन करता है।

---

1. योगशिखोपनिषद्

यस्मिन् ज्ञाते सर्वमिदं ज्ञातं भवति निश्चितम्।
तस्मिन् परिश्रमः कार्यः किमन्यच्छास्त्रमासितम्।।[1]

जिसके जानने से सब संसार जाना जाता है, ऐसे योग शास्त्र को जानने के लिए परिश्रम करना अवश्य उचित है। फिर जो अन्य शास्त्र है, उनका क्या प्रयोजन है? अर्थात् कुछ भी प्रयोजन नही है।

योगात्सम्प्राप्यते ज्ञानं योगाद्धर्मस्य लक्षणम्।
योगः परं तपो ज्ञेयः समाध्युक्तः समभ्यसेत्।।[2]

योगसाधना से ही वास्तविक ज्ञान की प्राप्ति होती है, योग ही धर्म का लक्षण है, योग ही परमतप है। इसलिए योग का सदा अभ्यास करना चाहिए संक्षेप में कहा जाए, तो जीवात्मा का विराट् चेतन से सम्पर्क जोड़कर दिव्य आदान प्रदान का मार्ग खोल देना ही योग अध्ययन का मुख्य उद्देश्य है।

दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां च यथा मलाः।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात्।।[3]

यह मनुस्मृति का श्लोक है। जैसे अग्नि में तपाने से सुवर्णादि धातुओं का मल नष्ट होकर वे शुद्ध होते हैं, वैसे प्राणायाम करके मन आदि इन्द्रियों के दोष क्षीण होकर निर्मल हो जाते हैं।

योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः।[4]

यह योगदर्शन का सूत्र है। जब मनुष्य योगाङ्गों का अनुष्ठान करता है, तब प्रतिक्षण उत्तरोत्तर काल में अशुद्धि का नाश और ज्ञान का प्रकाश होता जाता है। जब तक मुक्ति न हो, तब तक उसके आत्मा का ज्ञान बराबर बढ़ता जाता है। अविद्या का नाश होकर ऋतम्भरा प्रज्ञा की प्राप्ति होती है। **ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा :** यह प्रज्ञा वस्तु के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान

1. शिव संहिता 1/18
2. अत्रिस्मृति 1/12
3. मनुस्मृति 6/71
4. योग सूत्र 2/28

कराने में समर्थ होती है। योग से आत्मदर्शन कर लेना परम धर्म (कर्त्तव्य) है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में कहा गया है कि योगाभ्यास से शरीर में हलकापन, निरोगता, मन की स्थिरता, शरीर में ओज की वृद्धि, सुगन्ध एवं रोग-शोक से छुटकारा होता है :

अयं तु परमो धर्मो यद् योगेनात्मदर्शनम्।[1]

गीता में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद् योगी भवार्जुन।।[2]

अर्थात् योगी तपस्वी, ज्ञानी और कर्म करने वालों से भी श्रेष्ठ है। सांख्य और योग ये दो प्राचीन मार्ग हैं; जिनमें से किसी एक का आश्रय लेकर अन्तिम लक्ष्य (मुक्ति) को प्राप्त किया जा सकता है :

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्।।[3]

ज्ञानयोग से सांख्यनिष्ठा (स्थिति) और निष्काम कर्मयोग से योगनिष्ठा की प्राप्ति होती है। चित्तवृत्ति का नाश (दग्धबीज) करने के दो साधन ज्ञानयोग तथा योगाभ्यास हैं। सम्यक् ज्ञान से सांख्य तथा चित्तवृत्ति निरोध से योग प्राप्त किया जा सकता है। महर्षि घेरंड घेरंडसंहिता में कहते हैं :

नास्ति मायासमं पापं नास्ति योगात्परं बलं।
नास्ति ज्ञानात्परो बन्धुरहङ्कारात्परो रिपुः।।[4]

माया के समान कोई पाप नहीं है और योग से परे कोई बल नहीं है। ज्ञान के समान कोई बन्धु (भाई) नहीं है तथा अहंकार के समान कोई शत्रु नहीं है। स्वामी स्वात्माराम जी हठयोग प्रदीपिका में कहते हैं :

---

1. याज्ञवल्क्य स्मृति 1/8
2. गीता. 6/46
3. वही 3।3
4. घेरंड संहिता 1/4

सर्वे हठलयोपायाः राजयोगस्य सिद्धये।
राजयोगसमारूढः पुरुषः कालवञ्चकः॥[1]

अर्थात् हठयोग की सभी साधना तथा नादानुसन्धान आदि चित्तलय के सभी उपाय राजयोग तक पहुँचने के लिए ही हैं; क्योंकि जिसने राजयोग में सिद्धि प्राप्त कर ली, वह मृत्यु को भी जीत लेता है। आत्मा की अपने स्वरूप में स्थिति, ज्ञान का उदय और कर्म का क्षय होकर परमात्मा का साक्षात्कार होता है।

आधुनिक युग में योग की उपयोगिता

शिक्षा

शिक्षा के क्षेत्र में विद्यालयों, महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों के बच्चों पर बढ़ते तनाव को योगाभ्यास से कम किया जा रहा है। योगाभ्यास के द्वारा बच्चों को शारीरिक ही नहीं बल्कि मानसिक और आध्यात्मिक रूप से भी मजबूत बनाया जा रहा है। आज देश–विदेश के सभी शिक्षण संस्थाओं में शारीरिक शिक्षा के साथ–साथ आई.आई.टी., शिक्षाशास्त्र और एन.आई.टी, कम्प्यूटर, मनोविज्ञान, प्रबन्धन विज्ञान आदि के अनेक विषयों में योग पढ़ाया जा रहा है। योग–ध्यान के अभ्यास द्वारा विद्यार्थियों के मानसिक तनाव को कम करते हुए उनकी एकाग्रता व स्मरण शक्ति को भी बढ़ाया जा सकता है।

स्वास्थ्य

योगाभ्यास पर हुए अनेक शोधों से आये सकारात्मक परिणामों के कारण योग भारत में ही नहीं अपितु सम्पूर्ण विश्व में इसको पुनः एक नयी पहचान मिली है। आज विश्व स्वास्थ्य संगठन भी इस बात को मान चुका है कि वर्तमान में तेजी से फैल रहे मनोदैहिक रोगों में योगाभ्यास विशेष रूप से उपयोगी है। विश्व स्वास्थ्य संगठन का मानना है कि योग एक सुव्यवस्थित व वैज्ञानिक जीवनशैली है; जिसको

1. हठयोग प्रदीपिका 4/103

अपनाकर अनेक प्रकार के घातक रोगों से बचा जा सकता है। योगाभ्यास के षट्कर्मों द्वारा व्यक्ति के शरीर में स्थित विषैले पदार्थों का आसानी से निष्कासन हो जाता है। वहीं योगासन के अभ्यास से शरीर में लचीलापन बढता है। प्राणायाम के अभ्यास द्वारा व्यक्ति के शरीर में प्राणशक्ति की वृद्धि होती है। मन एकाग्र होता है।

रोगोपचार

आज भागदौड़ की जिंदगी में मनुष्य अनेक रोगों से ग्रसित हुआ है जिसका एक मात्र समाधान है योगाभ्यास; सम्भवतः रोगों पर योग के इस सकारात्मक प्रभाव के कारण ही विश्वभरमें योग का पुनः इतना प्रचार-प्रसार व सम्मान हुआ है। रोगों की एलोपैथी चिकित्सा में कई प्रकार के दुष्प्रभाव देखने को मिलते हैं, वहीं योग हानिरहित पद्धति है। आज देश-विदेशों की अनेकों स्वास्थ्य से सम्बन्धित संस्थाएं भी योगचिकित्सा पर तरह-तरह के शोधकार्य कर रही हैं। जिसके सकारात्मक परिणाम हमारे सामने हैं। आज योग द्वारा उच्च व निम्न रक्तचाप, दमा, हृदय रोग, संधिवात, मधुमेह, मोटापा, चिन्ता, अवसाद आदि मानसिक रोगों का प्रभावी रूप से उपचार किया जा रहा है। तथा अनेकों लोग इससे स्वस्थ हो रहे हैं।

खेलकूद

आज योगासन स्वयं एक खेल बन चुका है। युवा एवं खेल मंत्रालय भारत सरकार और योगऋषि स्वामी रामदेवजी के निर्देशन में "नेशनल योगासन स्पोर्ट्स फेडरेशन" आज पूरे देश में राज्य, राष्ट्रीय व अंतर्राष्ट्रीय स्तर की प्रतियोगिताओं का आयोजन कर रहा है। इसके साथ-साथ ही आज योगासनों की प्रतियोगिताएं खेलो इंडिया, स्कूल नेशनल गेम्स, ऑल इंडिया इंटर यूनिवर्सिटी गेम्स, सीबीएसई गेम्स आदि अनेक सरकारी संस्थाओं द्वारा आयोजित की जा रही हैं।

योगाभ्यास का अन्य खेलों के क्षेत्र में भी विशेष महत्त्व है। योगाभ्यास द्वारा विभिन्न खेलों के खिलाड़ी अपनी कुशलता, क्षमता व

योग्यता आदि को बढ़ाते हैं। योगाभ्यास से खिलाड़ियों के तनाव में कमी आती है, वहीं दूसरी ओर इससे खिलाड़ियों की एकाग्रता व बौद्धिक तथा शारीरिक क्षमता भीबढ़ती है। अनेक खेलों के खिलाड़ी जैसे-क्रिकेट, भारोत्तोलन, भालाफेक, कुश्ती, कबड्डी, बास्केटबॉल, वॉलीवाल, बैडमिंटन, चौस आदि के खिलाड़ी अपनी एकाग्रता लाने, शरीर में लचीलापन बढाने तथा शरीर की क्षमता बढ़ाने के लिए रोजाना योगाभ्यास को समय देते हैं।

पारिवारिक महत्त्व

परिवार समाज की एक महत्त्वपूर्ण इकाई है यह व्यक्ति के विकास की नींव है। योग व्यक्ति में पारिवारिक मूल्यों एवं मान्यताओं को भी जागृत करता है। योगाभ्यास द्वारा आत्मीयता, अपनत्व एवं सदाचार- जैसे गुणों का विकास होता है। योगाभ्यास स्वस्थ परिवार की आधारशिला है। वर्तमान में घटती संयुक्त परिवार व्यवस्था व बढ़ती एकल परिवार ने अनेकों प्रकार की समस्याओं को जन्म दिया है। आज समाज में परिवार का सदस्य संवेदनहीन, असहनशील, क्रोधी, स्वार्थी हो रहा है। जिसके कारण परिवार की धुरी धीरे-धीरे कमजोर होती जा रही है। योगाभ्यास से इस प्रकार की दुष्प्रवृत्तियाँ स्वतः ही समाप्त हो जाती हैं।

सामाजिक महत्त्व

समाजोत्थान में योग अभ्यास का महत्त्वपूर्ण स्थान है। योगव्यक्ति का शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक विकास करता है। योगाभ्यास द्वाराएक स्वस्थ, संस्कारित व आदर्श समाज की स्थापना होती है। आजयोग समाज को एक नयी दिशा प्रदान कर रहा है। योग लोगों के मन से ईर्ष्या, राग, द्वेष, आदि को मुक्त कर देता है। जिससे समाज में एकता व बंधुत्व की भावना का विस्तार करता है।

आर्थिक महत्त्व

मानव जीवन में योग विद्या और आर्थिक स्तरका सीधा सम्बन्ध है। शास्त्रों में वर्णित "पहला सुख निरोगी काया" दूजा सुख है "धन और

माया" इस आधार पर योगाचार्यों ने पहला धन निरोगी काया को माना है। अधिक परिश्रम करके एक स्वस्थ व्यक्ति ही अपनी आय को बढ़ा सकता है। जबकि दूसरी तरफ शरीर में रोग होने के कारण व्यक्ति औषधियों व उपचार पर व्यय करता है। योगाभ्यास से व्यक्ति में एकाग्रता की वृद्धि होने के साथ-साथ उसकी कार्यक्षमता का भी विकास होता है।

आजकल तो बड़े-बड़े उद्योगपति व फिल्म जगत् के प्रसिद्ध लोगों को अपनी कार्यक्षमता को बढ़ाने के लिए योगाभ्यास करते हुए देखा जा रहा है। इस प्रकार योग क्षेत्र में काम करने वाले योग प्रशिक्षक भी योगविद्या द्वारा धन अर्जित कर रहे हैं। आज देश-विदेश में अनेकों योग केन्द्र चल रहे हैं; जहां शुल्क लेकर योग सिखाया जा रहा है। अतः प्रत्येक वर्ष सैकड़ों योग जिज्ञासु भारत आकर योग प्रशिक्षण प्राप्त करते हैं; जिससे आर्थिक लाभ प्राप्त होता है।

आध्यात्मिक

वैदिक काल से ही योग का कार्य आध्यात्मिक क्षेत्र का विकास करना है। जिससे साधक आत्मा-परमात्मा के विषय को जान सके। योग का एकमात्र उद्देश्य आत्मा-परमात्मा के मिलन द्वारा समाधि की अवस्था को प्राप्त करना है। योगाभ्यास द्वारा साधक मोक्ष या मुक्ति के मार्ग को प्रशस्त करते हैं। योग के अन्तर्गत यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि को साधक चरणबद्ध तरीके से पार करता हुआ कैवल्य को प्राप्त कर जाता है।

निष्कर्ष

योग वास्तव में वैज्ञानिक जीवन पद्धति है इसका हमारे जीवन के प्रत्येक पक्ष पर गहराई से प्रभाव पड़ता है। इसी कारण से यह संन्यासियों और योगियों की विद्या न रहकर पूरे समाज तथा प्रत्येक व्यक्ति के लिए आदर्श जीवन पद्धति बन चुकी है।

योग के लिए उपयुक्त स्थान, ऋतुकाल, वेशभूषा

उचित काल-

योग-साधना के लिए काल एबं ऋतु का बहुत महत्त्व है; किसी भी कार्य को प्रारम्भ करने के लिए एक उपयुक्त समय होता है। इसी प्रकार योग-साधना को प्रारम्भ करने के लिए भी ऋतु एवं समय का ज्ञान होना व उसका पालन करना नितान्त आवश्यक है : **'कालो एव ब्रह्म कालो हि नाम भगवान् स्वयम्भूरादिमध्यान्तहीनो'।** काल समय ही ब्रह्म है, वह स्वयम्भू और अनादि अनन्त है। महर्षि घेरण्ड ने प्रथम स्थान और काल पर ही बल दिया है। सामान्य रूप से योग हेतु जो स्थान और समय के नियम बताए हैं, वे निम्न हैं :

योगाभ्यास का सर्वोत्तम समय सूर्योदय से पूर्व 1 घण्टे तक है। ध्यान का अभ्यास ब्रह्ममूहुर्त में लाभकारी बताया है। सम वातावरण होना चाहिए अर्थात् न अधिक ठण्ड, न अधिक गर्मी। खुले स्थान में अधिक हवादार जगह; तेज हवा, वर्षा ऋतु आदि में योगाभ्यास प्रारंभ नहीं करना चाहिए। बन्द कमरे में, खिड़की दरवाजे आदि बन्द करके भी योगाभ्यास नहीं किया जाना चाहिए। भोजन के तुरन्त बाद व तुरन्त पहले योगाभ्यास न करें। इससे न अभ्यास फलीभूत होगा और न ही खाना पचेगा।

स्थान

साधनात्मक जीवन में स्थान बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। वह स्थान जहाँ साधक साधना का प्रारम्भ करता है, वह मठ कहलाता है। प्राचीन-काल में ऋषि-महर्षियों ने ऐसे स्थान का चुनाव किया; जहाँ उच्च साधनात्मक भावनाओं, उच्च आध्यात्मिक ऊर्जा का प्रभाव था। जैसे हिमालय क्षेत्र में स्थित मठ, गुरुकुल, मन्दिर, साधना स्थल आदि इसी कारण अधिक हैं। आज भी बहुत से योगसाधक, हिमालय की गुफाओं में योग-साधनाएँ करते हैं। आश्रम, मठ, गुरुकुल, मन्दिर, साधना स्थल आदि कैसे हो, कहाँ हो– इसकी चर्चा करते हुए महर्षि घेरण्ड और स्वामी स्वात्माराम जी कहते हैं :

सुदेशे धार्मिके राज्ये सुभिक्षे निरुपद्रवे।
कृत्वा कुटीरं तत्रैकं प्राचीरैः परिवेष्टितम्।
सुराज्ये धार्मिके देशे सुभिक्षे निरुपद्रवे।
धनुःप्रमाणपर्यन्तं शिलाग्निजलवर्जिते।
एकान्ते मठिकामध्ये स्थातव्यं हठयोगिना।[1]

योगाभ्यास एक साधना है और साधना में सफल होने के लिए उचित स्थान की महत्ता का वर्णन अनेक ग्रन्थों में किया गया है। हठयोग शरीर के माध्यम से मन को साधने की प्रक्रिया है। योगाभ्यास में पूर्ण सफलता प्राप्त करने के लिए उचित स्थान, वातावरण, रहन सहन, सकारात्मकता विचार आदि का ख्याल रखना आवश्यक है। जैसे- धार्मिक तथा बिना उपद्रव वाले देश में एक छोटी कुटिया बनाए, जो शोरगुल से दूर हो। खुली हवा, सुरम्य वातावरण, प्रकृति की गोद में जो आनन्द और सुविधा होंगे; वह कहीं और प्राप्त होना मुश्किल है। उचित स्थान, समय व वातावरण का भी योगाभ्यास में महत्त्वपूर्ण स्थान है। ऐसा सुन्दर धार्मिक स्थल; जहाँ भोजन के लिए खाद्य पदार्थ सहजता से उपलब्ध हों, वहाँ किसी प्रकार का उपद्रव न हो और कुटी के चारों और चारदीवारी हो; अर्थात् जिसके चारों ओर चार हाथ की दूरी तक पत्थर अग्नि तथा जल न हो। अपना स्थान या सुन्दर देश (स्थान) या धार्मिक राज्य में जहाँ पर अच्छा मधुर शाकाहारी भोजन प्राप्त हो; जिस स्थान पर उपद्रव ना हो वहाँ सुन्दर कुटी का निर्माण करें। कुटी के चारों ओर प्राचीर का निर्माण करें। कुटी के अन्दर कुँआ/बावड़ी/तालाब का निर्माण करें। कुटिया न अधिक ऊँची हो और न नीची हो। कुटिया को गोबर से लीप कर रखें; जिससे उसमें उसमें कीट/कीड़े ना पडें। कुटीर साफ-सुथरी, स्वच्छ होनी चाहिए। ऐसे गुप्त स्थान में कुटीर बनाकर प्राणायाम व योगाभ्यास करना चाहिए।

गीता में योग हेतु उचित स्थान की चर्चा करते हुए वर्णन किया है-

---

1. हठयोगप्रदीपिका 1/12

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम्।।[1]

शुद्ध स्थान में जो स्वभाव से अथवा शुद्ध किया गया हो (झाड़ने बुहारने या धूपादि से), संस्कारों से साफ किया, पवित्र स्थान हो; वहाँ अपना आसन स्थित करें; जो न ज्यादा ऊँचा न ज्यादा नीचा हो; जिस पर क्रमशः कुशा (घास/पराली) बिछाकर उस पर मृगचर्म व वस्त्र बिछावे व फिर उस पर साधना करें-

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये।।[2]

प्राकृतिक रूप से या यत्नपूर्वक शुद्ध किए हुए स्थान पर मन को एकाग्र करके, चित्त और इन्द्रियों की क्रियाओं को वश में रखते हुए आसन पर बैठकर अन्तःकरण की शुद्धि व ईश्वरप्राप्ति हेतु योगाभ्यास करें।

योगाभ्यास कहाँ न करें-

दूरे देशे तथारण्ये राजधान्यां जनान्तिके।
योगारम्भं न कुर्वीत कृतो न सिद्धिदो भवेत्।।[3]

अर्थात् दूर देश में, जंगल के बीच में, राजधानी में, जहाँ लोगों का शोरगुल हो, आना-जाना अधिक हो; ऐसे स्थान पर योगाभ्यास करने से सिद्धि नहीं होती।

अविश्वासं दूरदेशे अरण्ये रक्षिवर्जितम्।
लोकारण्ये प्रकाशश्च तस्मात् त्रीणि विवर्जयेत्।।[4]

1. श्रीमद्भगवद् गीता 6/11
2. वही 6/12
3. घेरण्डसंहिता 5/3
4. वही 5/4

दूर देश अर्थात् जहाँ किसी पर विश्वास नहीं किया जा सकता, असुरक्षित जंगल में, और भीड़ व शोरगुल से भरे लोकारण्य में; इन तीनों स्थानों पर योगाभ्यास करना वर्जित है।

किस ऋतुकाल में योग को प्रारम्भ करें

प्रारम्भिक अभ्यासियों को विशेष रूप से काल निर्णय एवं ऋतु निर्णय करके ही योगाभ्यास प्रारम्भ करना चाहिए; नहीं तो शरीर में रोगादि उत्पन्न हो सकते हैं। ऋतु के विषय में महर्षि घेरण्ड कहते हैं-

वसन्ते शरदि प्रोक्तं योगारम्भं समाचरेत्।
तथा योगी भवेत्सिद्धो रोगान्मुक्तो भवेद्ध्रुवम्।।[1]

अर्थात् वसन्त और शरद ऋतुओं में योग का आरम्भ करने पर योगी को सिद्धि प्राप्त होती है तथा उसके सभी रोग आदि नष्ट हो जाते हैं- यह अटल सत्य है। वसन्त ऋतु का समय चैत्र और वैशाख (प्रायः मार्च और अप्रैल) माह होता है। जबकि शरद् ऋतु का समय आश्विन और कार्तिक (अक्टूबर-नवम्बर) माह। इन ऋतुओं में मौसम शरीर के अनुकूल रहता है; क्योंकि तब न अधिक ठण्ड होती है और न अधिक गर्मी। वायु के वेग और वर्षा से होने वाली समस्या भी इस समय में नहीं होती। अतः यह योग के लिए उपयुक्त है।

किस ऋतु में न करें-

हेमन्ते शिशिरे ग्रीष्मे वर्षायां च ऋतौ तथा।
योगारम्भं न कुर्वीत कृतो योगो हि दुःखदः।।[2]

अर्थात् हेमन्त, शिशिर, ग्रीष्म और वर्षा ऋतु[3] में योगाभ्यास नहीं करना चाहिए। यदि इन ऋतुओं में योगाभ्यास प्रारम्भ करते हैं, तो रोग उत्पन्न हो सकते हैं।

---

1. वही 5/9
2. घेरेण्डसंहिता 5/8
3. रोगदः इतिषाठान्तरम्

षड् ऋतु–

वसन्तश्चैत्रवैशाखौ ज्येष्ठाषाढौ च ग्रीष्मकः।
वर्षा श्रावणभाद्राभ्यां शरदाश्विनकार्तिकौ॥
मार्गपौषौ च हेमन्तः शिशिरो माघफाल्गुनौ।[1]

इसे इस प्रकार समझा जा सकता है–

ऋतु	**भारतीय मास**	**ग्रेगरियन महीने**
वसन्त	चैत्र–वैशाख	14 मार्च से अप्रैल [इसमें योग प्रारम्भ कर सकते हैं]
ग्रीष्म	ज्येष्ठ–आषाढ	मई से जून
वर्षा	श्रावण–भाद्रपद	जुलाई से सितम्बर
शरद	अश्विन–कार्तिक	अक्तूबर से नवम्बर [इस में योग प्रारम्भ कर सकते है]
हेमन्त	मार्गशीर्ष–पौष	दिसंबर से 15 जनवरी
शिशिर	माघ–फाल्गुन	16 जनवरी से फरवरी और 13 मार्च

तथा पुराने अभ्यासियों हेतु :

योगभवने सिद्धो विनायासेन कथ्यते।[2]

अभ्यासी साधकों के लिए अभ्यास में ऋतु बाधक नहीं होती। उनका शरीर व मन पूर्ण रूप से परिवर्तनों के लिए तत्पर रहता है और अभ्यास द्वारा शरीर व मन पूर्णरूपेण सिद्ध हो चुका होता है। अतः पुराने अभ्यासियों के लिए ऋतु बाधा नहीं है।

वेशभूषा : योगाभ्यास करने के लिए सदैव खुले कपड़े जादा मोटे या टाइट कपड़े नही पहनने चाहिए; अपितु जैसे पुरुष कुर्ता–पजामा, लोवर–टीशर्ट, नीकर या कटिवस्त्र आदि और स्त्री सूट–सलवार, कुर्ता–पजामा, लोवर–टीशर्ट आदि पहनकर अभ्यास करें।

---

1. घेरण्डसंहिता 5/28
2. घेरण्डसहिंता 5/28

आश्रम व मठ में योगाभ्यास करें:-

योग का अभ्यास आश्रम, मठ, मन्दिर, गुरुकुल आदि में करना चाहिए। साधक को साधना करने से पूर्व अपनी सुरक्षा का ध्यान रखते हुए योगाभ्यास करने के लिए अच्छा स्थान चुनना चाहिए। यदि कहीं योग मठ सुलभ हो तो सर्वोत्तम है। प्रश्न उठता है कि योग मठ क्या है? 'योगमठ' दो शब्दों के मेल से मिलकर बना है- योग+मठ। योग= स्वयं को जानने के प्रयास की निरन्तर चलने वाली प्रक्रिया है और 'मठ'= जहाँ मन का ठहराव हो, जहाँ चित्त की चंचलता पर नियन्त्रण स्थापित किया जा सके; वह स्थान योगमठ कहलाता है। योगमठ वह स्थान है; जहाँ मन की निम्नगामी शक्तियों को ऊर्ध्वगामी बनाया जाता है, जहाँ स्वयं को जानने के लिए चित्त की चंचलता को रोकने के लिए प्रयास किया जाता है। वह स्थान जो आध्यात्मिक शक्तियों को जागृत करने के लिए उच्च ऊर्जा से भरा हो और सहज ही साधक का मन उसमें रम जाए। वह महान् आत्माओं की तपस्थली हो; जिनकी सकारात्मक ऊर्जा मन को एकाग्र करने में सहायक सिद्ध हो सके।

आहार [पथ्यापथ्य]

लघुपाकं प्रियं स्निग्धं तथा धातुप्रपोषणम्।
मनोऽभिलषितं योग्यं योगी भोजनमाचरेत्॥

योगी को चाहिए कि वह शीघ्र पचने वाला, जो स्वयं को प्रिय हो तथा स्नेह घृत व तेल से युक्त, धातुओं को पुष्ट करने वाला, मन को अच्छा लगने और योग्य भोजन ही करें। महर्षि घेरण्ड भोजन की मात्रा के नियम को इस प्रकार कहते हैं-

अन्नेन पूरयेदर्धं तोयेन तु तृतीयकम्।
उदरस्य तुरीयांशं संरक्षेद्वायुचारणे॥[1]

पेट (अमाशय) के आधे भाग को अन्न से भरना और शेष एक भाग को जल से भरना और शेष एक चौथाई भाग को वायु संचालन के

---

1. घेरण्डसंहिता 5/22

लिए खाली रखना है। इस तरह रहने पर पेट में कोई समस्या या बीमारी नहीं होती। पेट भरकर रखना वर्जित है।

प्रातः स्नानोपासनादि कायक्लेशविधिं तथा।
एकाहारं निराहारं यामान्ते च न कारयेत्।।[1]

प्रत्येक प्रहर के बाद भोजन करना भी योगारम्भ में त्याज्य है। और प्रात:कालीन या सायंकालीन स्नान एवं उपवासादि शरीर को कष्ट देने वाली क्रियाएँ छोड दें। सायंकाल सूर्यास्त के बाद भोजन नहीं करना चाहिए।

मिताहार (संयमित आहार)

मिताहारं विना यस्तु योगारम्भं तु कारयेत्।
नानारोगोभवन्त्यस्य किञ्चिद्योगो न सिद्धति।।[2]

जो साधक योगारम्भ करते समय मिताहार नहीं करता उसके शरीर में अनेक रोग उत्पन्न हो जाते हैं और उसको योग में सिद्धि प्राप्त नहीं होती।

ग्राह्याहार : ग्रहण करने योग्य आहार [पथ्य]

शाल्यन्नं यवपिण्डं वा गोधूमपिण्डकं तथा।
मुद्गं माषचणकादि शुभ्रं च तुषवर्जितम्।।[3]

साधक को चावल, गेहूँ, मूँग, उड़द, चना आदि को भूसी आदि से रहित करके स्वच्छ करके भोजन करना चाहिए। इन सभी को बराबर मात्रा में मिलाकर आटा बनाएँ और उसकी रोटी खाना सर्वोत्तम है।

पटोलं पनसं मानं कंकोलं च शुकाशकम्।
द्राढिकां कर्कटीं रम्भोदुम्वरी कण्टकण्टकम्।।[4]

1. वही 5/30
2. वही 5/16
3. घेरण्डसंहिता 5/17
4. वही 5/18

कटहल, परवल, मानकन्द (ओल जिमिकंद), ककोंण, करेला, कुन्दरु, अरबी, ककड़ी, कच्चा केला, गूलर, चौलाई, बैंगन इत्यादि का उपयोग योगाभ्यासी कर सकता है।

आमरम्भावालरम्भा रम्भादण्डं च मूलकम्।
वार्ताकी मूलकं ऋद्धि योगी भक्षणमाचरेत्॥

वालशाकं कालशाकं तथा पटोलपत्रकम्।
पञ्चशाकं प्रशंसीयाद्वास्तुकं हिलमोचिकाम्॥[1]

कच्चे या पके केले का दण्ड और उसका मूल, बैंगन, ऋद्धि, कच्चा शाक, आदि का सेवन करें। सरसों आदि के कोमल पत्तों का शाक, चौलाई या काली चौलाई का शाक, परवल के पत्ते, बथुआ, हुरहुर- ये पाँच शाक ऋतु के अनुसार योगी को खाना चाहिए।

शुद्धं सुमधुरं स्निग्धं उदरार्धविवर्जितम्।
भुज्यते सुरसं प्रीत्या मिताहारमिमं विदुः॥[2]

शुद्ध, पवित्र, निर्मल, सुमधुर और स्निग्ध सुरस द्रव्य सन्तोष के साथ खाएँ। आधे पेट को खाली रखें व आधे को खाने से भरे। इसे मिताहार कहते हैं-

नवनीतं घृतं क्षीरं गुडशर्करादि चैक्षवम्।

पञ्चरम्भा नारिकेलं दाडिमं मशिवांरसम्।
द्राक्षातु नवनीधात्रीं रसमम्लं विवर्जितम्॥[3]

अर्थात् मक्खन, घृत, दुग्ध, गुड, शक्कर, दाल, आंवला, अम्लरस, आदि का सेवन करना चाहिए। अडूसा के पुष्प पत्र, अँगूर, केले के पाँच प्रकार, नारियल, अनार, सौंफ आदि भी भोज्य हैं। शीघ्र पचने वाले, प्रिय, स्निग्ध, धातुओं को पुष्ट करने वाला मनोऽनुकूल पदार्थ ही खाएँ।

---

1. वही 5/19/20
2. वही 5/21
3. घेरण्डसंहिता 5/26

ग्राह्याहार (हठयोगप्रदीपिका-पथ्य)

सुस्निग्धमधुराहारश्चतुर्थांशविवर्जितः।
भुज्यते शिवसम्प्रीत्यै मिताहारः स उच्यते॥[1]

सुस्निग्ध अर्थात् पर्याप्त घृत आदि से युक्त भोजन, जो पेट का एक चतुर्थांश अर्थात् चौथाई भाग को खाली रखकर किया गया है, आत्मा की प्रीति के लिए लिया जा रहा है, जिह्वा के स्वाद के लिए नहीं; इसे मिताहार कहते हैं।

गोधूमशालियवषाष्ठिकशोभनान्न
क्षीराज्यखण्डनवनीतसितामधूनि।
शुण्ठीपटोलकफलादिकपञ्चशाकम्
मुद्रादिदिव्यमुदकञ्च यमीन्द्र पथ्यम्॥[2]

गेहूँ, पुराना चावल, जौ, साठी चावल, प्रशस्त अन्न, हैं। दूध, घृत, श्रीखण्ड, मक्खन, शक्कर और मधु, सोंठ, अदरक, परवल, लौकी, तुरई, [कुष्माण्ड-सफेद पेठा], खीरा-ये पाँच फल, मूँग दाल, मसूर दाल आदि दालें वर्षा का जल यह सब संयमी योगसाधक के लिए पथ्य हैं।

पुष्टं सुमधुरं स्निग्धं गव्यं धातुप्रपोषणम्।
मनोऽभिलषितं योग्यं योगी भोजनमाचरेत्॥[3]

योग की साधना करने वालों को चाहिए कि मधुर स्वाद वाले, बलदायक, घृत आदि स्नेहयुक्त, गाय का दूध आदि धातुओं को पुष्ट करने वाले, रुचिकर या मन को अच्छे लगने वाले अनुकूल समय और परिस्थिति के अनुसार भोजन करे।

प्रारम्भं प्रथमं कुर्यात्क्षीराज्यं नित्यभोजनम्।
मध्याह्ने चैव सायाह्ने भोजनद्वयमाचरेत्॥[4]

---

1. हठयोगप्रदीपिका 1/60
2. वही 1/64
3. हठयोगप्रदीपिका 1/65
4. घेरण्डसंहिता 5/31

इस प्रकार प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए। प्राणायाम आरम्भ करने से पूर्व नित्य-प्रति दूध घृत का सेवन करे। मध्याह्न व सायं दो समय भोजन करे।

अग्राह्याहार [अपथ्य]

कट्वम्ललवणं तिक्तं भृष्टं च दधि तक्रकम्।
शाकोत्कटं तथा मद्यं तालं च पनसं तथा।।

कुलत्थं मसुरं पाण्डु कूष्माण्डं शाकदण्डकम्।
तुम्बी कोलपित्थं च कण्टिबिल्वं पलाशकम्।।

कदम्बं जम्बिरं निम्बं लकुचं लशुनं विषम्।
कामरङ्गं प्रियालं च हिङ्ग्‌गुश्ल्मलीकेमुकम्।।

योगारम्भे वर्जयेत पत्थ्यं स्त्रीवह्निसेवनम्।[1]

योगाभ्यासी कड़ुआ, अम्ल, लवण और तीखा- ये चार रस वाली वस्तुएँ; भुने पदार्थ, दही, तक्र, शाक, उत्कट, मद्य, ताल, और कटहल का त्याग करें। कुलथी, मसूर, प्याज, कुम्हाड़ा, शाकदण्ड, गोथा, कैथ, ककोड़ी, ढ़ाक आदि का त्याग करें। पलाश के फूल, कड़ुआ, अम्ल, लवण, तिक्त- ये चार रस वाली वस्तुएँ, भुनी हुई चीजें, दही-मट्ठा, शक्कर, शाक पेठा, मद्य, शाकदण्ड, घीया, बेर, कैथ, काँटेदार बेल, ढ़ाक, कदम्ब के फूल, जम्बीर, लकुच, लहसुन, विष, कमरव, प्याज, हींग, सेमर, गोथी- इनका सेवन न करें। कदम्ब, जम्बीरी (नीम्बू) कुन्दरु, बड़हर, लहसुन, कमरख, चिरौंजी, हींग और गोभी आदि का भक्षण योगारम्भ में निषिद्ध है। मार्गगमन, स्त्रीसेवन, अग्निसेवन (तापना) भी योगी के लिए उचित नहीं है।

एलां जातिलवङ्गं च पौरुषं जम्बु जाम्बुलम्।
हरीतकीं च खर्जूरं योगी भक्षणमाचरेत्।।[2]

---

1. वही 5/23,24,25
2. घेरण्डसंहिता 5/27

इलायची, लौंग, जायफल, उत्तेजनात्मक पदार्थ, जम्बूफल (जामुन), हरड़ और खजूर का सेवन न करें। कड़वा, दूषित, उत्तेजना और वासना उत्पन्न करने वाली उष्ण, बासी, खट्टा और खटाई, अधिक ठण्डी, अति उग्र वस्तुओं को न खाएँ।

कट्वम्लतीक्ष्णलवणोष्णहरीतशाकं।
सौवीर-तैल-तिल-सर्षप-मद्य-मत्स्यान्।
अजादिमांस-दधि-तक्र-कुलत्थ-कोल-
पिण्याक-हिङ्गु-लशुनाद्यमपथ्यमाहुः॥[1]

जो योगसाधक योग साधनों में शीघ्र सफलता चाहते हैं, उन्हें निम्नलिखित पदार्थों का त्याग कर देना चाहिए : कड़वा, खट्टा, तीखा मिर्च, नमक, गरम जायफल आदि पित्तवर्धक, हरी पत्तियों का शाक बेर का फल या कांजी, तिल या राई का तेल, मद्य, शराब, मछली, बकरी आदि पशुओं का मांस, दही, मट्ठा, कुलथी, काली मिर्च, खली, हींग, लहशुन आदि को अपथ्य अर्थात् योग में हानिकारक आहार बताया गया है।

भोजनमहितं विद्यात्पुनरुष्णीकृतं रूक्षम्।
अतिलवणमम्लयुक्तं कदशनम्-
शाकोत्कटं वर्ज्यम्। वह्नि-स्त्री-
पथसेवनमादौ वर्जनमाचरेत्॥[2]

अहितकर भोजन, दुबारा गरम किया, रूखा, अधिक नमक युक्त, खटाई युक्त, खराब हुआ भोजन, शाक प्रधान भोजन अहित करने वाला है। अतः इसका त्याग करना चाहिए। साधना के प्रारंभिक दिनों में आग तापना, स्त्री-सम्पर्क और यात्रा करना आदि को त्यागने योग्य समझना चाहिए। क्योंकि योग-साधना में इनसे बाधा होती है।

---

1. हठयोगप्रदीपिका 1/61
2. हठयोगप्रदीपिका 1/63

कठिनं दुरितं पूतिम् उष्णम् पर्युषितं तथा।
अतिशीतं चातिचोग्रं भक्ष्यं योगी विवर्जयेत्॥[1]

योगी को चाहिए कि वह देर से पचने वाला, छल, प्रपञ्च, चोरी, हिंसा आदि से प्राप्त कोई भी द्रव्य पदार्थ या खाना सड़ा हुआ, अधिक गर्म, बासी, अधिक ठण्डा, अधिक चटपटा, मसालेदार उत्तेजक खाना कभी न लें।

भगवान् श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं-

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥[2]

जो व्यक्ति संयमित आहार को ग्रहण करता है और संयमित विहार अर्थात् घूमता फिरता है, यथायोग्य चेष्टा करता है अर्थात् कर्म उचित रूप से करता है और सोना जगना संयमित रूप से करता है; ऐसे साधक के दु:खों को योग हर लेता है।

योग साधना के साधक तत्त्व व बाधक तत्त्व-

उत्साहात् साहसाद् धैर्यात्तत्वज्ञानाच्च निश्चयात्।
जनसङ्गपरित्यागात् षड्भिर्योगः प्रसिध्यति॥[3]

उत्साह से, साहस से, धैर्य से तत्त्वज्ञान के बोध से, दृढ निश्चय से, सामाजिकता को त्याग देने से अर्थात् एकान्तवास से;, इन छ: के द्वारा योगसाधना में सफलता मिलती है।

हठसाधना के बाधक तत्त्व-

अत्याहारः प्रजल्पश्च प्रयासो नियमाग्रहः।
जनसङ्गश्च लौल्यञ्च षड्भिर्योगो विनश्यति॥[4]

---

1. घेरण्डसंहिता 5/29
2. भगवद्गीता 6/17
3. हठयोगप्रदीपिका 1/16
4. वही 1/15

अधिक भोजन करना, अनावश्यक बहुत ज्यादा बोलना, सफलता हेतु बहुत अधिक प्रयत्न करना, नियमाग्रह अर्थात् ऐसा ही करना है इस नियम का कठोर आग्रह, अधिक सामाजिकता, लालच या अधिक चपलता- इन छः के कारण योग-साधना निष्फल होती है।

हठसिद्धि के लक्षण-

वपुःकृशत्वं वदने प्रसन्नता नादस्फुटत्वं नयने सुनिर्मले।
अरोगता बिन्दुजयोऽग्निदीपनं नाडीविशुद्धिः हठयोगलक्षणम्।।[1]

शरीर का पतला होना, मुख पर प्रसन्नता, अनाहत नाद का स्पष्ट सुनाई देना, नेत्रों का पूर्ण निर्मल हो जाना, रोग का पूर्ण अभाव, वीर्य पर विजय, जठराग्नि का प्रदीप्त होना सुषुम्ना का पूर्ण शुद्ध हो जाना- ये सब हठयोग में सिद्धि के लक्षण हैं।

सप्तसाधन

शोधनं दृढता चैव स्थैर्यं धैर्यं च लाघवम्।
प्रत्यक्षं च निर्लिप्तिं च घटस्थसप्तसाधनम्।।[2]

योगाभ्यास करने वाले पुरुषों के लिये शरीर के सात साधन कहे गये हैं। प्रथम शोधन अर्थात् देह को शुद्ध करना, द्वितीय दृढ़ता अर्थात् देह, मन और इन्द्रियों का दृढ़ करना, तृतीय स्थैर्य अर्थात् देह का सदा एक समान स्थिर रहना, चतुर्थ धैर्य अर्थात् किसी भी स्थिति में धैर्यवान बने रहना, पंचम लाघव अर्थात् शरीर में हल्कापन का रहना, षष्ठ प्रत्यक्ष अर्थात् किसी भी दृश्य को इच्छानुसार प्रत्यक्ष देखना तथा सप्त निर्लिप्त अर्थात् सभी वस्तुओं को उपयोग में लाना; परन्तु सबसे अलग रहना।

षट्कर्मणां शोधनञ्च आसनेन भवेद्दृढम्।
मुद्रया स्थिरता चैव प्रत्याहारेण धीरता।।
प्राणायामाल्लाघवञ्च ध्यानात्प्रत्यक्षमात्मनि।
समाधिना निर्लिप्तञ्च मुक्तिरेव न संशयः।।[3]

1. हठयोगप्रदीपिका 2/78
2. घेरण्ड संहिता 1/9
3. घेरण्ड संहिता 1/10-11

शोधन (शरीर, मन, बुद्धि और इन्द्रियों का) छः कर्मों से होता है : सर्व (प्रथम) आसनों से दृढ़ता होती है। (द्वितीय) मुद्राओं से स्थिरता होती है। (तृतीय) प्रत्याहार से धैर्य प्राप्त होता है। (चतुर्थ) प्राणायाम से लाघवता (हल्कापन) प्राप्त होता है। (पंचम) ध्यान से अपने मन में जो इच्छा करे प्रत्यक्ष हो जाता है और (षष्ठ) समाधि से निर्लिप्त अवस्था को प्राप्त करता हुआ (मनुष्य) अन्त में मुक्ति को प्राप्त हो जाता है; इसमें कोई संशय नहीं है।

तृतीय अध्याय

राजयोग

सब योगों में प्रधान होने से इसे राजयोग कहते हैं। राजयोग समाधि का वाचक है। समाधि योग का अन्तिम सोपान है। महर्षि पतंजलि द्वारा प्रतिपादित अष्टांग योग को ही राजयोग कहते हैं। सर्वप्रथम स्वामी विवेकानंद जी ने राजयोग की चर्चा की थी। उनकी सबसे प्रसिद्ध पुस्तकों में **"राजयोग"** एक है। यह पुस्तक जुलाई 1896 ई. में प्रकाशित हुई। योग को सबसे पहले वैश्विक स्तर पर ले जाने का श्रेय स्वामीजी को ही दिया जाता है। इस पुस्तक में स्वामी विवेकानन्द ने राजयोग या अष्टांग योग की न सिर्फ व्याख्या की है, बल्कि इस पथ पर चलने के लिए आवश्यक साधनों और परिणामों की भी गंभीर चर्चा की है। योग के विषय में यह एक प्रामाणिक ग्रंथ माना जाता है।

राजयोग शब्द अनेक उपनिषदों में प्राप्त होता है। कदाचित् योग के राजा के रूप में इसका प्रयोग किया गया है। सभी प्रकार के योगों का लक्ष्य समाधि की अवस्था प्राप्त करना है। जबकि राजयोग के साधक सीधे समाधि अवस्था से ही साधना प्रारम्भ करता है। इसलिए सभी योग मार्गों के साधनों में श्रेष्ठ होने के कारण इसे राजयोग कहा जाता है। यह "राजृ दीप्तौ" धातु से निष्पन्न दीप्ति अर्थ में प्रयुक्त होता है। यहाँ इसका तात्पर्य यह है कि राजयोग की सिद्धि होने पर साधक का चित्त मलों से रहित हो जाता है और कांतियुक्त हो जाता है। 'योगस्वरोदय ग्रंथ' में राजयोग की परिभाषा देते हुए कहा गया है–

यथाकाशे भ्रमण् वायुराकाशे व्रजते स्वयम्।
तथाकाशे मनोलीनं राजयोगक्रिया मतम्।।[1]

अर्थात् जिस प्रकार आकाश में भ्रमण करता हुआ वामलीन रहता है। उसी प्रकार मन को शून्य में लीन करना राजयोग है। 'योगशिखोपनिषद्' में राजयोग की परिभाषा देते हुए कहा गया है **: रजसो रेतसो योगाद्राजयोग इति स्मृतः**[2] अर्थात् राजरूपी कुण्डलिनी शक्ति का रेतरूपी शिव के साथ मिलन अर्थात् आत्मतत्त्व का ब्रह्मतत्त्व के साथ मिलन राजयोग है। इस प्रकार हम देखते हैं कि राजयोग में ब्रह्म के साथ एकत्व को योग की संज्ञा दी गई है। इसमें साधक जीवात्मा ब्रह्म से मिलकर उसी का अंश हो जाता है। उस अवस्था में द्वैत भाव नहीं रहता। यही सब योग मार्गों का परम लक्ष्य है; उस समय साधक के लिए समस्त जगत् का लोप हो जाता है, दु:खों की आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है। साधक की अपने शुद्ध आत्मस्वरूप में स्थिति हो जाती है। राजयोग के तीन प्रकार के अधिकारी कहे जाते हैं : (अ) उत्तम, (ब) मध्यम, (स) अधम। यह विभाग साधना के स्तर को ध्यान में रखकर किया है। उत्तम कोटि के साधक वे हैं; जिन्हें केवल अभ्यास और वैराग्य के द्वारा समाधि सिद्ध हो जाती है। महर्षि पतंजलि भी अष्टांग योग में चित्तवृत्ति निरोध के मुख्य उपायों का वर्णन करते हुए कहते हैं : **अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः**[3] अर्थात् चित्त की वृत्तियों का निरोध अभ्यास और वैराग्य के द्वारा होता है। **समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्**[4] अथवा उत्तम कोटि के साधकों को केवल ईश्वरप्राणिधान के द्वारा ही समाधि की अवस्था प्राप्त हो जाती है। महर्षि पतंजलि कहते हैं– **त्रयमेकत्र संयमः**[5] अर्थात् जब धारणा ध्यान और समाधि– ये मिलकर एक हो जाएँ तो उस अवस्था का

---

1. योगस्वरोदय ग्रंथ
2. योगशिखोपनिषद् 1/137
3. योगदर्शन 1/12
4. वही 2/45
5. योगदर्शन 3/4

नाम संयम है। यहाँ इसका तात्पर्य यह है कि राजयोग की साधना में साधक के लिए धारणा, ध्यान और समाधि का निरन्तर अभ्यास करना बताया गया है; क्योंकि इनके अभ्यास से चित्त एकाग्र हो पाता है और एकाग्र हुए चित्त से ही चित्त की वृत्तियों का निरोध संभव है। निरोध के पश्चात् ही आत्मानुभूति सम्भव है। इन साधनों के साथ-साथ यम-नियम का पालन तथा प्राणायाम का अभ्यास सहायक के रूप राजयोग में वर्णित किया गया है; क्योंकि यम-नियम के पालन से चित्त में किसी भी प्रकार का कालुष्य उत्पन्न नहीं होता। प्राणायाम का लाभ बताते हुए महर्षि पतंजलि कहते हैं : **धारणासु च योग्यता मनसः।** प्राणायाम के अभ्यास से चित्त में धारणा की योग्यता उत्पन्न होती है। चित्त एक विषय पर ठहरने लगता है; जिसके निरन्तर अभ्यास से ही ध्यान व समाधि की अवस्था प्राप्त होती है। योगवासिष्ठ में कहा गया है कि प्राणायाम के अभ्यासी साधक को राज से मोक्ष तक सम्पदाएँ प्राप्त होती हैं।

इस प्रकार राजयोग में प्राणायाम भी एक महत्त्वपूर्ण साधन है। राजयोग की महत्ता को सभी योगमार्गियों ने स्वीकार किया है। सभी का लक्ष्य राजयोग अर्थात् समाधि की प्राप्ति है। प्रत्येक योगमार्ग की अंतिम परिणति समाधि में ही होती है। हठयोगी भी हठयोग साधना राजयोग की प्राप्ति के लिए ही करते हैं। योगी स्वात्माराम हठयोग विद्या का उपदेश करते हुए कहते हैं : **'केवलं राजयोगाय हठविद्योपदिश्यते'** अर्थात् मैं इस हठविद्या का उपदेश केवल राजयोग की प्राप्ति के लिए कर रहा हूँ। इस प्रकार राजयोग की सिद्ध करने योग्य योग है; क्योंकि इसी के माध्यम से योगी अपने स्वरूप को पहचानता है। शास्त्रों में चार प्रकार के राजयोगियों का वर्णन प्राप्त होता है : 1. प्रथम कल्पित, 2. मधुभूमिक, 3. मधु प्रतीक, 4. अतिक्रान्त भणनीय।

1. इनमें प्रथम कल्पित योगी को नौसिखिया प्रारंभिक साधक कहा जा सकता है; जो सवितर्क समाधि का अभ्यास करता है।
2. मधुभूमिक योगी इससे थोड़ा उच्च कोटि का होता है; जो निर्वितर्क समाधि का अभ्यास करता है।

3. अतिशान्त भणनीय योगी अस्मितानुगत समाधि सिद्ध होते हैं। तथा उन्हें ऋतम्भरा प्रज्ञा प्राप्त होती है; जिससे उन्हें असंप्रज्ञात समाधि का लाभ प्राप्त होता है। इसका निरन्तर अभ्यास करने से जब ऋतम्भरा प्रज्ञा के लिए भी साधक के चित्त में वैराग्य उत्पन्न हो जाता है, तो चित्त का कार्य पूर्ण होने से वह अपने 'कारण प्रकृति' में लीन हो जाता है और आत्मा अकेला रह जाता है। वह चित्त से प्रभावित नहीं होता है। इसी को योग में कैवल्य के नाम से पुकारा जाता है; जिसे मोक्ष या मुक्ति भी कहते हैं -**ईश्वरप्रणिधा-नाद्वा**[1] अर्थात् ईश्वरप्रणिधान से समाधि सिद्ध होती है। ये दोनों बातें उत्तम कोटि के साधकों के लिए कही गई हैं। ऐसे साधकों की पूर्वजन्म की साधना उच्चकोटि की होती है। उन्हें योग के दूसरे अंगों का पालन करना अनिवार्य नहीं होता है। ये सीधे समाधि की अवस्था में प्रवेश करते हैं।

मध्यम कोटि के साधकों को योग उत्तम कोटि के साधकों की अपेक्षा कुछ कठिनता से सिद्ध होता है। उनके पूर्व जन्मों के संस्कार योग साधनों के तो हैं, किन्तु इतने उन्नत नहीं होते कि उन्हें सीधे समाधि की प्राप्ति करा सके। इनके लिए राजयोग में क्रिया योग का वर्णन किया गया है। क्रियायोग का वर्णन करते हुए महर्षि पतंजलि कहते हैं : **तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः**[2] अर्थात् तप स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान क्रियायोग है। मध्यम कोटि के साधकों को शीत-उष्ण, मान-अपमान, सुख-दुःख आदि को सहन करने की आदत अपने शरीर को डालनी होती है। मन में धैर्य और सभी अवस्थाओं में चित्त को समान बनाए रखने का अभ्यास करना होता है। साथ ही आध्यात्मिक ग्रन्थों का अध्ययन और ईश्वर के प्रति समर्पण का भाव रखना होता है। तभी वे समाधि को प्राप्त कर पाते हैं।

---

1. योगदर्शन 1/23
2. वही 2/1

अधम कोटि के साधकों अर्थात् जिन्होंने अभी तक योगसाधना प्रारम्भ नहीं की है। उन्हें अष्टांग योग की साधना का अभ्यास करना आवश्यक है; क्योंकि योग के सभी अंगों के पालन से उनका शरीर और मन सबल एवं शुद्ध हो सकेगा। तत्पश्चात् एकाग्र होकर समाधि लाभ कर सकेगा। राजयोग की साधना में साधक की स्थिति जिस स्तर पर होगी, वैसी ही उसको योगसिद्धि प्राप्त होगी।

राजयोग की साधना प्रणाली अलग-अलग नामों से प्रचलित है। कहीं इसे ध्यान योग के नाम से जाना जाता है। महर्षि पतंजलि ने यही साधना-प्रणाली अष्टांग योग के नाम से निष्पादित की है। यही सभी योगों में श्रेष्ठ है। इससे जिस स्तर का साधक होता है, वैसी ही साधना करके वह योगमार्ग में आगे बढ़ सकता है।

हठयोग

हठयोग का अर्थ एवं परिभाषाएँ: '**ह**' से तात्पर्य हकार अर्थात् सूर्यस्वर एवं '**ठ**' से तात्पर्य ठकार अर्थात् चन्द्रस्वर से है; और इस सूर्य और चन्द्र के संयोग को हठयोग कहा गया है। योगशिखोपनिषद में भी हकार को सूर्य तथा ठकार को चन्द्र मानकर सूर्य और चन्द्र के संयोग को हठयोग कहा गया है:- **हकारेण तु सूर्यस्स्यात् ठकारेणेन्दुरुच्यते। सूर्यचन्द्रमसोरैक्यं हठ इत्यभिधीयते।**[1]

हठ= हं :-सूर्यस्वर, ग्रीष्म, दिन, शिव, पिंगला-दाहिना, ब्रह्म, दक्षिण

ठं :-चन्द्रस्वर, शीतल, रात, शक्ति, इड़ा-बायाँ, जीव, वाम

हठयोग में जब इडा और पिङ्गला नाड़ी अर्थात् वाम और दक्षिण स्वर जब एक समान चलने लगें, तो सुषुम्ना का जागरण होता है। जब सुषुम्ना निरन्तर चलने लगती है, तब शरीर में सूक्ष्म रूप में विद्यमान कुण्डलिनी शक्ति का जागरण होता है। जब कुण्डलिनी शक्ति का जागरण होता है, तब वह अष्ट चक्रों का भेदन करती हुई सहस्रार में जाकर परमशिव से मिलती है। आध्यात्मिक अर्थों में यही हठयोग है।

1. योगशिखोपनिषद्

हठयोग का परिचय : मानव इतिहास के अनवरत प्रवाह के साथ योग की अन्यान्य धाराओं का विकास हुआ। हठयोग उसी की एक उपधारा है। हठयोग को शब्दसागर नामक कोश में इस प्रकार से परिभाषित किया गया है। हठयोग जिसमें चित्तवृत्ति विषयों से हटाकर अंतर्मुखी की जाती है, वही हठयोग है और जिसमें शरीर को साधने के लिये बड़ी कठिन मुद्राओं और आसनों, प्राणायाम, बन्धों आदि का विधान है। भगवान शिव हठयोग के प्रथम वक्ता हैं, उनके बाद मत्स्येंद्रनाथ और गोरखनाथ इस हठयोग के मुख्य आचार्य है। गोरखनाथ ने एक पंथ भी चलाया है; जिसके अनुयायी कनफटे या नाथ कहलाते हैं। पतंजलि के योग के दार्शनिक अंश को छोड़कर उसकी साधना के अंश को लेकर जो विस्तार किया गया है, वही हठयोग है।[1] **हठयोग-प्रदीपिका** के अनुसार हठयोग का आरम्भ आदिनाथ से माना गया है :

श्रीआदिनाथाय नमोऽस्तु तस्मै येनोपदिष्टा हठयोगविद्या[2]

अर्थात् मैं उस आदिनाथ को नमस्कार करता हूँ; जिसने हठयोग की विद्या अर्थात् साधना की विधि का उपदेश सर्वप्रथम उपदेश किया है।

प्रणम्य श्रीगुरुं नाथं स्वात्मारामेण योगिना[3]

अर्थात् योगी स्वात्माराम गुरु मत्स्येन्द्रनाथ और उनके भी गुरु आदिनाथ इस गुरुपरम्परा को प्रणाम करके हठयोग की साधना का उपदेश कर रहे हैं।

सर्वे हठलयोपायाः राजयोगस्य सिद्धये।
राजयोगसमारूढः पुरुषः कालवञ्चकः॥[4]

---

1. शब्दसागर
2. हठयोगप्रदीपिका 1/1
3. वही 1/2
4. वही 4/103

अर्थात् हठयोग की सभी साधनाएँ राजयोग तक पहुँचने के लिए है; क्योंकि जिसने राजयोग में सिद्धि प्राप्त कर ली, वह मृत्यु को भी जीत लेता है।

हठयोग प्राणों को साधने की कला है। प्राणों को साधकर मन पर नियन्त्रण किया जा सकता है। हठयोग शरीर आधारित योग-साधना है। अन्नमय और प्राणमय कोष जिसे देह और प्राण कहा जाता है। इन्हीं की शुद्धि हठयोग का लक्ष्य है।

हठयोग का विकासक्रम : योग को सनातन परम्परा भी कहते हैं सर्वप्रथम हठयोग की विद्या का उपदेश आदिनाथ शिव ने माता पार्वती को दिया था। इसलिए हठयोग के अधिकांश ग्रन्थ शिव पार्वती संवाद के रूप में हैं। कुछ विद्वानों का मानना है कि हठयोग का उद्भव तन्त्र शास्त्रों में बिखरे योग ज्ञान को विशिष्ट शाखा के रूप में नाथयोगियों नें विशिष्ट पहचान दी है। आप्टे कोश के अनुसार- 'ना' शब्द का अर्थ है- अनादि और 'थ' शब्द का अर्थ है भुवनत्रय का स्थापित होना। नाथ शब्द की व्युत्पत्ति नाथ् धातु से मानी गई है। बौद्ध धर्म के पतन के साथ ही नाथ सम्प्रदाय का उदय हुआ। यह समय था- सातवीं शताब्दी का; तभी हठयोग का प्रादुर्भाव हुआ। नाथ साधु योगी भगवान् शिव को अपना आराध्य देव मानते हैं।

हठविद्यां मत्स्येन्द्रगोरक्षाद्या विजानते।
स्वात्मारामोऽथवा योगी जानीते तत्प्रसादतः॥[1]

अर्थात् हठयोग की साधना विधि को शिव और और माता पार्वती के बाद मत्स्येन्द्रनाथ और गोरखनाथ आदि भली प्रकार जानते थे। और उन्हीं की कृपा से स्वामी स्वात्माराम भी जानते हैं; अन्य कोई नहीं।

श्रीआदिनाथ मत्स्येन्द्रशाबरानन्दभैरवाः।
चौरङ्गीमीनगोरक्षविरूपाक्षविलेशयः॥
मन्थानो भैरवो योगी सिद्धिबुद्धश्च कन्थडिः।
कोरण्टकः सुरानन्दः सिद्धिपादश्च चर्पटिः॥

1. हठयोग प्रदीपिका 1/4

कानेरी पूज्यपादश्च नित्यनाथो निरञ्जनः।
कपाली बिन्दुनाथश्च काकचण्डीश्वराह्वयः।।
अल्लामः प्रभुदेवश्च घोडा चोली च टिंटिणिः।
भानुकी नारदेवश्च खण्डः कापालिकस्तथा।।
इत्यादयो महासिद्धाः हठयोगप्रभावतः।।
खण्डयित्वा कालदण्डं ब्रह्माण्डे विचरन्ति ते।।[1]

आदिनाथ के बाद मत्स्येन्द्रनाथ, गोरखनाथ, गोपीनाथ आदि 84 सिद्धों के नामों का वर्णन है; जिसमें 100 नाथों ने इस परम्परा को आगे बढ़ाया। जब चौदहवीं-पन्द्रहवीं शताब्दी मे योग का पक्ष धूमिल हो गया था, इसी समय में स्वामी स्वात्माराम ने हठयोग के सही पक्ष को हमारे समाज व विद्वानों के सामने रखा।

नाथ सम्प्रदाय की षडङ्ग की साधना-

नाथ-सम्प्रदाय में षडङ्ग योग साधना प्रचलित है। गोरक्षशतक में षडङ्ग का उल्लेख है-

आसनं प्राणसंरोधः प्रत्याहारस्य धारणा।
ध्यानं समाधिरेतानि योगाङ्गानि वदन्ति षट्।।[2]

अर्थात् आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि- ये छः अंग हैं। कहीं कहीं योग के चार, सात, आठ या पन्द्रह अङ्ग भी माने गए हैं। सिद्धसिद्धान्तपद्धति एवं दत्तात्रेयसंहिता आदि ग्रन्थों में यम नियम का भी उल्लेख मिलता है। परन्तु यम-नियम को योगाङ्गों के रूप में संयुक्त न करके केवल षडङ्ग योग का ही निरूपण हुआ है।

आसन-(नाथ सम्प्रदाय) नाथ योग-साधना का प्रथम अङ्ग है : **हठस्य प्रथमाङ्गत्वादासनं पूर्वमुच्यते**[3] सदा अर्थात् निजस्वरूप अर्थात् चेतन आत्मा में स्थित हो जाने को आसन कहते हैं। गोरक्षशतक में

1. हठयोग प्रदीपिका 1/5-9
2. गोरक्षशतक 1/1
3. हठयोग प्रदीपिका 1/19

भगवान् शिवजी ने 84 लाख आसनों का वर्णन किया है। नाथ-सम्प्रदाय की हठयोग-साधना का यह प्रथम योगाङ्ग है-

चतुरशीतिलक्षाधिकैकं समुदाहृतम्।
ततः शिवेन पीठानां षोडशोनं शतं कृतम्॥[1]

भगवान् शिव ने चौरासी लाख आसनों को कहा है; जिनमें सोलह सौ विशिष्ट आसन है। इन सभी में केवल दो ही आसन सबसे मुख्य माने गए हैं-सिद्धासन और पद्मासन। नाथयोग-साधना में प्राणायाम का विशेष महत्त्व है। नाथ-सम्प्रदाय के अनुसार हमारे शरीर में 72000 नाडियाँ हैं; जिनका उद्‌गम स्थल मूल कन्द है।

हठयोग की परिभाषाएँ-

तन्त्रशास्त्र के अनुसार- राजयोग की उच्च स्थिति को प्राप्त करना ही हठयोग का उद्देश्य है। मूलाधार में स्थित शक्ति का सहस्रार में स्थित शिव से मिलन ही हठयोग है-

शिवसंहिता के अनुसार-

प्राणापानौ नादबिन्दू जीवात्मपरमात्मनौ।
मिलित्वा घटते यास्मात्तस्माद् वै घट उच्यते॥

अर्थात् जिसमें प्राण और अपान, नाद और बिन्दु, जीवात्मा और परमात्मा एक हो जाते हैं; उसी को घट अवस्था या हठयोग कहते हैं। जब प्राणायाम और बन्ध का अभ्यास कर अपान को ऊपर खींचकर प्राण से मिलाया जाता है, तो हठयोग साधना कहलाती है। यह बात स्पष्ट है कि शरीर और मन के बीच में एक कड़ी है; जो दोनों से जुड़ी है, वह है- प्राण। प्राण के सध जाने से मन भी सध जाता है। हठयोगप्रदीपिका में कहा है-

चले वाते चलं चित्तं निश्चले निश्चलं भवेत्।
योगी स्थाणुत्वमाप्नोति ततो वायुं निरोधयेत्॥[2]

---

1. गोरक्षशतकम् 9
2. हठयोगप्रदीपिका 2/2

अर्थात् वायु के चलायमान होने पर चित्त भी चञ्चल होता है एवं वायु के स्थिर होने पर चित्त भी स्थिर हो जाता है। स्थूल शरीर पर प्रयोग करके प्राण को प्रभावित किया जा सकता है और प्राण के माध्यम से सूक्ष्म शरीर को प्रभावित किया जा सकता है।

हठयोग का उद्देश्यः-

केवलं राजयोगाय हठविद्योपदिश्यते[1]

अर्थात् केवल राजयोग (समाधि) के लिए ही हठयोग का उपदेश दिया जा रहा है।

पीठानि कुम्भकश्चित्राः दिव्यानि करणानि च।
सर्वाण्यपि हठाभ्यासे राजयोगफलावधिः॥[2]

अर्थात् अनेक प्रकार के आसन, कुम्भक क्रियाएँ तब तक करने योग्य हैं जब तक राजयोग अर्थात् समाधिरूपी फल प्राप्त नहीं हो जाते।

अशेषतापतप्तानां समाश्रयमठो हठः।
अशेषयोगयुक्तानामाधारकमठो हठः॥[3]

जो व्यक्ति संसार के अनन्त कष्टरूपी ताप से तप रहे हैं। उनके लिए हठयोग की साधना सुखदायक घर के समान है, और जो साधक विविध प्रकार की योग-सधनाओं में लगे हैं। उनके लिए हठयोग की साधना उसी प्रकार आधारभूत है; जिस प्रकार समुद्रमन्थन के समय मन्दराचलरूपी मथनी के लिए कच्छपरूपी आधार बना हुआ था। जब किसी को अन्य साधन से समाधि प्राप्त न हो रही हो, तो वे सभी साधक हठयोग की साधना करें। बोधी अवस्था को प्राप्त करने का साधन हठयोग है।

हठविद्या परं गोप्यं योगिना सिद्धिमिच्छता।
भवेद् बलवती गुप्ता निर्वीर्या तु प्रकाशिता॥[4]

1. हठयोगप्रदीपिका 1/2
2. वही 1/69
3. वही 1/10
4. वही 1/11

हठविद्या की साधना परम गोपनीय है, इसलिए इसका प्रकाशन अर्थात् दिखावा व प्रदर्शन न करें। साधना गुप्त रखने पर बलवती होती है और प्रकाशित करने पर निष्फल हो जाती है। स्वास्थ्य संरक्षण, रोग से मुक्ति, सुप्त चेतना की जागृति, व्यक्तित्व विकास तथा आध्यात्मिक उन्नति इस विद्या के मुख्य उद्देश्य हैं।

ज्ञानयोग (सांख्ययोग)

अध्यात्म के क्षेत्र में साधना के अनेक मार्ग हैं। साधक अपने लक्ष्य तक पहुँचने के लिए किस साधन या किस मार्ग का प्रयोग करता है, उसी के अनुसार उसकी साधना का नाम होता है। जैसे भक्तियोग, ज्ञानयोग, कर्मयोग, हठयोग, राजयोग, लययोग, मंत्रयोग इत्यादि। ज्ञान-योग में साधक ज्ञान के माध्यम से ब्रह्म का साक्षात्कार करता है, अतः इसे ज्ञान-योग-साधना कहा जाता है। ज्ञानयोग तथा संन्यासयोग- ये सांख्ययोग के ही नाम हैं। सांख्ययोग में कहा जाता है : **शुद्धात्मतत्त्वविज्ञानं सांख्यमित्यभिधीयते**[1] अर्थात् प्रकृति-पुरुष का ज्ञान करके अपने को प्रकृति के बन्धन से मुक्त कर लेना ही सांख्य का प्रयोजन है। सांख्य का साधन : प्रकृति एवं पुरुष के गुण-धर्मों को जानकर प्रकृति से अपने को निर्लिप्त या पृथक् कर लेना है। सत्त्व, रजस् और तमस् की साम्यावस्था प्रकृति है। इस प्रकार गुण ही गुणों में प्रवृत्त हो रहे हैं, यह जानकर अपने को इनसे पृथक् और अकर्ता समझना और अपने को ब्रह्मस्थ, ब्रह्म के समीप समझकर सदैव उसके स्वरूप का चिंतन करना ज्ञानयोग कहलाता है-

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते।।[2]

पुरुष शुद्ध, बुद्ध, मुक्त होते हुए भी अविद्यादि निमित्त से प्रकृति के बन्धन में बँध जाता है। प्रकृति सात रूपों-धर्म- अधर्म, अज्ञान, वैराग्य, अवैराग्य, ऐश्वर्य और अनैश्वर्य से बाँधती है।

---

1. शंकराचार्य-विष्णुसहस्रनाम
2. गीता 3/28

इन्द्रियाणि मनोबुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम्।।[1]

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम्।।[2]

अर्थात् इन्द्रियों, मन और बुद्धि को इस कामरूपी शत्रु का अधिष्ठान या आश्रय कहा जाता है। इनके आश्रय से काम ज्ञान को ढक कर मनुष्य को भुलावे में डाल देता है। इसलिए हे भरतवंश में उत्तम (भरतश्रेष्ठ) अर्जुन! पहले इन्द्रियों को संयम में रखकर, ज्ञान-विज्ञान का नाश करने वाले इस कामरूपी पापी को नष्ट कर-

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा।।[3]

जिस प्रकार प्रज्वलित अग्नि सब प्रकार के ईंधन को भस्म कर डालती है, उसी प्रकार हे अर्जुन! ज्ञानरूपी अग्नि सभी प्रकार के कर्मों के बंधन (शुभ और अशुभ) को जला डालती है। इसलिए संसार में ज्ञान के समान पवित्र और मुक्तिदायक दूसरा साधन नहीं है-

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति।।[4]

इस लोक में ज्ञान के समान पवित्र वास्तव में और कुछ भी नहीं है। जिसको कर्मयोग सिद्ध हो गया हो, ऐसा साधक काल (समय) पा कर उस ज्ञान को स्वयं ही अपने में प्राप्त कर लेता है।

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति।।[5]

---

1. गीता 3/40
2. वही 3/41
3. वही 4/37
4. वही 4/38
5. वही 4/39

जो श्रद्धावान् पुरुष इन्द्रिय संयम द्वारा उस ज्ञान के पीछे लगा रहता है, उसे वह ज्ञान मिल जाता है। ज्ञान मिलने पर उसे तुरन्त परम शान्ति प्राप्त हो जाती है। गोरक्षशतक में मन्त्रयोग, लययोग, हठयोग और राजयोग-ये योग के चार भेद कहे हैं।

मन्त्रो लयो हठो राजयोगोन्तर्भूमिका क्रमात्।
एक एव चतुर्धाऽयं महायोगोभिधीयते॥[1]

ज्ञानयोग की मान्यता यह है कि जीव तथा ब्रह्म मूलतः एक ही है। अतः ब्रह्म ही एकमात्र सत्य नित्य है। इसके अतिरिक्त सब कुछ असत्य और अनित्य है। स्वयं में छिपी हुई अनंत संभावनाओं का साक्षात्कार कर ब्रह्म में लीन होना ही ज्ञानयोग है।

आदि गुरु शंकराचार्य के ग्रंथों में विवेक चूड़ामणि एक प्रधान ग्रंथ है। यह मुमुक्षु पुरुषों के लिए बड़ा ही उपयोगी है, हिंदी में इसके कई अनुवाद हुए हैं। विवेक चूड़ामणि में ज्ञानयोग की साधना को दो भागों में वर्गीकृत किया गया है। क. बहिरंग साधना ख. अन्तरंग साधना।

जब साधक ज्ञानयोग के मार्ग पर अग्रसर होता है, तो प्रारंभ में उसे कुछ नियमों का पालन करना आवश्यक होता है। उन्हीं नियमों की बातों को बहिरंग साधन कहते हैं। इन बहिरंग साधनों की संख्या चार होने की वजह से साधन चतुष्टय भी कहा जाता है; जो इस प्रकार हैं:-1. विवेक, 2. वैराग्य, 3. षट्सम्पति, 4. मुमुक्षुत्व।

विवेक- नित्य-अनित्य का यथार्थ बोध; अर्थात् ज्ञानयोग के अनुसार नित्य वस्तु को नित्य और अनित्य वस्तु को अनित्य जानना ही नित्यानित्यवस्तु विवेक है। इसके अनुसार एकमात्र ब्रह्म ही सत्य एवं नित्य है, इसके अलावा अन्य सभी वस्तुएं मिथ्या एवं अनित्य हैं।

वैराग्य- वैराग्य बहिरंग साधनों में दूसरा प्रमुख साधन है। वैराग्य का आशय है कि लौकिक एवं पारलौकिक सभी प्रकार के भोग, ऐश्वर्य एवं स्वर्गीय सुखों को मिथ्या एवं अनित्य मानकर उनके भोगने की इच्छा का पूरी तरह परित्याग कर देना।

---

1. गोरक्षशतकम् 24

षट्सम्पत्तिः ज्ञानयोग के साधक को छः बातों का पालन करना आवश्यक होता है। ये छ : बातें अथवा गुण या नियम एक प्रकार से ज्ञानयोगी की सम्पत्ति होते हैं। अतः इन्हें षट्सम्पति कहा जाता है। ये निम्न हैं–1. शम 2. दम 3 उपरति 4. तितिक्षा 5. श्रद्धा 6.समाधान।

1. **शम**– शम शब्द का अर्थ है शमन अर्थात् शान्त करना। मन का निग्रह करना, मन का संयम करना साधक के लिए एक अत्यधिक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है।

2. **दम**– दम का शाब्दिक अर्थ है– दमन करना; अर्थात् चक्षु इत्यादि इन्द्रियों को विषयों से हटाकर चित्त को आत्मा में स्थिर करना।

3. **उपरति**– कर्मफलों का परित्याग करते हुए आसक्तिरहित होकर कर्म करना तथा उन्हें ईश्वर को समर्पित करना ही उपरति है।

4. **तितिक्षा**– साधना के मार्ग में आने वाले सभी प्रकार के कष्टों को बिना किसी प्रतिक्रिया के प्रसन्नतापूर्वक सहन करते हुए अपने लक्ष्य की प्राप्ति हेतु निरन्तर साधना करने का नाम ही तितिक्षा है।

5. **श्रद्धा**– गुरुवाक्य एवं शास्त्रवाक्य (वेद–वेदान्त इत्यादि के वाक्य) में अटल निष्ठा एवं विश्वास का नाम ही श्रद्धा है।

6. **समाधान**– चित्त को सर्वदा ब्रह्म में स्थिर एवं एकाग्र करने का नाम ही समाधान है; न कि चित्त की इच्छापूर्ति का नाम समाधान है।

मुमुक्षुत्व– दुःखरूपी संसार–सागर को पार करके मोक्षरूपी अमृत को प्राप्त करने की साधक की तीव्र [अभिलाषा] इच्छा होती है, उसे ही मुमुक्षुत्व कहा जाता है।

(ख) अन्तरंग साधन– बहिरंग साधनों के समान अन्तरंग साधनों की संख्या भी चार ही है; जो निम्न हैं– 1. श्रवण, 2. मनन, 3. निदिध्यासन, 4. समाधि।

श्रवण– शास्त्रों में आत्मा-ब्रह्म के बारे में भिन्न-भिन्न प्रकार से वर्णन होने के कारण हो सकता है, कि साधक को अनेक प्रकार के संशय उत्पन्न हो जाये कि ठीक या यथार्थ क्या है। श्रवण का अर्थ है- संशय को दूर करने के लिए साधक का सर्वप्रथम गुरु के मुख से ब्रह्म के विषय में सुनना।

मनन– मनन का अर्थ है- ईश्वर के विषय में गुरुमुख से जो कुछ सुना है, उसको अपने अन्तःकरण में स्थापित कर लेना सम्यक् प्रकार से बिठा लेना।

निदिध्यासन– निदिध्यासन का आशय है- अनुभव करना अथवा बोध होना या आत्मसाक्षात्कार करना। देह से लेकर बुद्धि तक जितने भी जड़ पदार्थ है, उनमें पृथक्त्व की भावना को हटाकर सभी में एकमात्र ब्रह्म का ही अनुभव करना निदिध्यासन है।

निदिध्यासन के 15 अंग माने गये है; जो निम्न है- 1. यम, 2. नियम, 3. त्याग, 4. मौन, 5. देश, 6. काल, 7. आसन, 8. मूलबन्ध, 9. देहस्थिति, 10. दृक्स्थिति, 11. प्राणायाम, 12. प्रत्याहार, 13. धारणा, 14. ध्यान, 15. समाधि।

4. समाधि– ध्याता, ध्येय एवं ध्यान का भेद मिटकर एकमात्र ध्येय की प्रतीति होना तथा आत्मस्वरूप में प्रतिष्ठित होने का नाम ही समाधि है। विवेक चूड़ामणि में साधन-चतुष्टय का वर्णन करते हुए कहा गया है कि **साधनान्यत्र चत्वारि कथितानि मनीषिभिः। येषु सत्स्वेव सन्निष्ठा यदभावे न सिद्ध्यति।।**[1] अर्थात् यहाँ मनस्वियों ने जिज्ञासा के चार साधन बताये हैं, उनके होने से ही सत्यस्वरूप आत्मा में स्थिति हो सकती है; उनके बिना नहीं।

आदौ नित्यानित्यवस्तुविवेकः परिगण्यते।
इहामुत्रफलभोगविरागस्तदनन्तरम्।।[2]

1. गौरक्षशतम् 18
2. वही 19

शमादिषट्कसम्पत्तिर्मुमुक्षुत्वमिति स्फुटम्।

पहला साधन नित्यानित्य-वस्तु-विवेक गिना जाता है, दूसरा लौकिक एवं पारलौकिक सुख-भोग में वैराग्य होना है, तीसरा शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा, समाधान-ये छः सम्पत्तियाँ हैं और चौथा मुमुक्षुत्व है।

ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्येत्येवं रूपो विनिश्चयः।
सोऽयं नित्यानित्यवस्तुविवेकः समुदाहृतः।।[1]

ब्रह्म सत्य है और जगत् मिथ्या है- ऐसा जो निश्चय है, यही नित्यानित्यवस्तुविवेक कहलाता है।

तद्वैराग्यं जुगुप्सा या दर्शनश्रवणादिभिः।
देहादिब्रह्मपर्यन्ते ह्यनित्ये भोगवस्तुनि।।[2]

दर्शन और श्रवणादि के द्वारा देह से लेकर ब्रह्मलोकपर्यन्त सम्पूर्ण अनित्य भोग्य पदार्थों में जो घृणाबुद्धि है, वही वैराग्य है।

विरज्य विषयवाताद्दोषदृष्ट्या मुहुर्मुहुः।
स्वलक्ष्ये नियतावस्था मनसः शम उच्यते।।[3]

बारम्बार दोष-दृष्टि करने से विषय-समूह से विरक्त होकर चित्त का अपने लक्ष्य में स्थिर हो जाना ही शम है।

विषयेभ्यः परावर्त्य स्थापनं स्वस्वगोलके।[4]

उभयेषामिन्द्रियाणां स दमः परिकीर्तितः।
बाह्यानालम्बनं वृत्तेरेषोपरतिरुत्तमा।।[5]

कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय- दोनों को उनके विषयों से खींचकर अपने अपने गोलकों में स्थित करना दम कहलाता है। वृत्ति का बाह्य

1. गोरक्षशतकम् 20
2. वही 21
3. वही 22
4. वही 23
5. वही 24

विषयों का आश्रय न लेना- यही उत्तम उपरति है।

सहनं सर्वदुःखानामप्रतीकारपूर्वकम्।
चिन्ताविलापरहितं सा तितिक्षा निगद्यते।।[1]

चिन्ता और शोक से रहित होकर बिना कोई प्रतिकार किये सब प्रकार के कष्टों को सहन करना तितिक्षा कहलाती है।

शास्त्रस्य गुरुवाक्यस्य सत्यबुद्ध्यवधारणम्।
सा श्रद्धा कथिता सद्भिर्यया वस्तूपलभ्यते।।[2]

शास्त्र और गुरुवाक्यों में सत्यत्व बुद्धि करना, इसी को सज्जनों ने श्रद्धा कहा है; जिससे कि वस्तु की प्राप्ति होती है।

सर्वदा स्थापनं बुद्धेः शुद्धे ब्रह्मणि सर्वथा।
तत्समाधानमित्युक्तं न तु चित्तस्य लालनम्।[3]

अर्थात् अपनी बुद्धि को सब प्रकार शुद्ध ब्रह्म में ही सदा स्थिर रखना इसी को समाधान कहा है। चित्त की इच्छापूर्ति का नाम समाधान नहीं है।

अहंकारादिदेहान्तान्बन्धानज्ञानकल्पितान्।
स्वस्वरूपावबोधेन मोक्तुमिच्छा मुमुक्षुता।।[4]

अहंकार से लेकर देहपर्यन्त जितने अज्ञान-कल्पित बन्धन हैं, उनको अपने स्वरूप के ज्ञान द्वारा त्यागने की इच्छा मुमुक्षुता है।

मन्दमध्यमरूपापि वैराग्येण शमादिना।
प्रसादेन गुरोः सेयं प्रवृद्धा सूयते फलम्।।[5]

वह मुमुक्षुता मन्द और मध्यम भी हो, तो भी वैराग्य तथा शमादि षट्सम्पत्ति और गुरुकृपा से बढ़कर फल उत्पन्न करती है।

---

1. गोरक्षशतकम् 25
2. वही 26
3. वही 27
4. वही 28
5. वही 29

वैराग्यं च मुमुक्षुत्वं तीव्रं यस्य तु विद्यते।
तस्मिन्नेवार्थवन्तः स्युः फलवन्तः शमादयः॥[1]

जिस पुरुष में वैराग्य और मुमुक्षुत्व तीव्र होते हैं, उसी में शमादि चरितार्थ और सफल होते हैं।

एतयोर्मन्दता यत्र विरक्तत्वमुमुक्षयोः।
मेरौ सलिलवत्तत्र शमादेर्भासमात्रता॥[2]

जहाँ इन वैराग्य और मुमुक्षुत्व को मन्दता है, वहाँ शमादि का भी मरुस्थल में जल-प्रतीति के समान आभासमात्र ही समझना चाहिये।

कर्मयोग

कर्म शब्द 'कृ' धातु में मन् प्रत्यय लगने से 'कर्म' शब्द की उत्पत्ति होती है। कर्म का अर्थ है :-क्रिया, कर्म, व्यापार, भाग्य आदि। हम कह सकते हैं कि जिस कार्य में कर्ता की क्रिया का फल निहित होता है, वही कर्म कहलाता है। कर्म करना मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति है तथा कर्म के बिना मनुष्य का जीवित रहना असम्भव है। कर्म करने की इस प्रवृत्ति के संबन्ध में भगवान् श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं-

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥[3]

अर्थात् इस विषय में किसी भी प्रकार का संदेह नहीं किया जा सकता कि मनुष्य किसी भी काल में क्षणमात्र भी बिना कर्म किये नहीं रह सकता; क्योंकि सभी मानव प्रकृतिजनित गुणों के कारण कर्म करने के लिए बाध्य होते हैं। मनुष्य को न चाहते हुए भी कुछ न कुछ कर्म करने होते हैं और ये कर्म ही बन्धन के कारण हैं। साधारण अवस्था में किये गये कर्मों में आसक्ति बनी रहती है; जिससे कई प्रकार के संस्कार उत्पन्न होते हैं। इन्हीं संस्कारों के कारण मनुष्य जीवन-मरण के चक्र में फँसा रहता है। जबकि ये कर्म यदि अनासक्त भाव से किये जाते हैं, तो ये मोक्षप्राप्ति का मार्ग बन जाते हैं-

1. गोरक्षशतकम् 30
2. गोरक्षशतकम् 31
3. गीता 3/5

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति।।[1]

जो व्यक्ति राग–द्वेष से रहित होकर, अपनी इन्द्रियों को अपने वश में करके, अपने अन्तःकरण को विशेष प्रकार से बनाकर, शिक्षित करके, कर्मफल की आसक्ति से रहित होकर संसार के विषयों में विचरता है; वह प्रसन्नता को प्राप्त होता है।

गीता के अनुसार चिंता, तनाव आदि क्यों होता हैं:–

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते।।[2]

इंद्रियों के द्वारा विषयों का ध्यान करते करते पुरुष की उन विषयों की ओर आसक्ति बढ़ जाती है। इस संग से वासना [कामना] उत्पन्न होती है। विषयों के लगातार संग से, ध्यान करने से मन में बार–बार विचार आने से उनके प्रति कामना (Attachment) पैदा हो जाती है। कामना पैदा हो जाने के बाद जब विषयों की पूर्ति में बाधा पड़ती है, तब क्रोध पैदा होता है।

क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति।।[3]

क्रोध से सम्मोह अर्थात् अत्यन्त मूढ़ भाव पैदा हो जाता है, सम्मोह अर्थात् मूढ़–भाव से स्मृति में भ्रम हो जाता है, स्मृति में भ्रम हो जाने से बुद्धि का नाश हो जाता है, बुद्धि के नष्ट हो जाने से व्यक्ति ही नष्ट हो जाता है। व्यक्ति नष्ट का तात्पर्य व्यक्ति अपने स्तर से पतित हो जाता है।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि।।[4]

---

1. गीता 2/64
2. वही 2/62
3. वही 2/63
4. वही 2/47

कर्म करने अर्थात् कर्तव्य करने में ही तेरा अधिकार है, कर्मों के फलों की प्राप्ति में कभी नहीं। कर्मफल को अपना ध्येय (हेतु) बनाकर भी तू कर्म करने वाला मत बन और उन कर्म कर्मत्याग (अकर्म) में भी तेरी आसक्ति न हो अर्थात् तू निष्क्रिय भी मत रह।

यह श्लोक इस अध्याय का सबसे महत्त्वपूर्ण श्लोक है। श्रीकृष्ण ने अर्जुन से स्पष्ट कहा है कि तेरा अधिकार तो अपने कर्तव्य-कर्म करने का है, फल का मिलना न मिलना तेरे वश की बात नहीं। जो कर्म करेगा, वह फल भी पायेगा ऐसा माना जाता है। पर कर्म करने के पश्चात् फल के निर्धारण में और भी कई कारकों का योग होता है। हेतु को लक्ष्य बनाकर कर्म करने वाला भी मत बन और न कर्म त्यागने का आग्रह ही कर, कि यदि इच्छित फल न मिले, तो कर्तव्य ही क्यों करूँ? कर्म से व्यक्ति बंधन में बँधता है। किन्तु गीता ने कार्य में कुशलता को योग कहा है। योग की परिभाषा देते हुए गीता में कहा है-

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्।।[1]

जो व्यक्ति साम्यबुद्धि से युक्त है, वह अन्तःकरण की शुद्धि व ज्ञानप्राप्ति के द्वारा) इस लोक में पाप और पुण्य दोनों से ही अलिप्त रहता है। अतः समत्वबुद्धिरूप योग का आश्रय ले। कर्म करने में कुशलता (Perfection) को ही कर्मयोग कहते हैं; अर्थात् कर्मों को कुशलतापूर्वक करना ही योग है। कर्मयोग-साधना में मनुष्य बिना कर्म बंधन में बँधे कर्म करता है तथा वह सांसारिक कामों को करते हुए भी मुक्ति प्राप्त कर लेता है। कर्मयोग का गूढ़ रहस्य अर्जुन को बताते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं कि हे अर्जुन! शास्त्रों के द्वारा नियत किये गये कर्मों को भी आसक्ति त्यागकर ही करना चाहिए; क्योंकि फलासक्ति को त्यागकर किये गये कर्मों में मनुष्य नहीं बँधता। इसीलिए इस प्रकार वे कार्य मुक्तिदायक होते हैं-

1. गीता 2/50

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥[1]

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः॥[2]

हे धनंजय! आसक्ति छोड़कर तथा योग में स्थित होकर अर्थात् स्थिरचित्त होकर, कर्म की सिद्धि या असिद्धि को समान मानकर अपना कर्म कर। कर्म के सिद्ध होने या असफल होने- दोनों ही अवस्थाओं में एक समान रहने वाली समत्त्व बुद्धि का नाम ही योग है; क्योंकि बुद्धि की साम्यावस्था से सकाम कर्म की स्थिति बहुत ही कनिष्ठ (नीची) है। इसलिए हे धनंजय! तू समत्व बुद्धि की शरण ले (अन्विच्छ गृहाण)। फल पर दृष्टि रखकर कर्म करने वाले लोग अत्यन्त दीन गिने जाते हैं।।

कर्मयोग की साधना में अभ्यासरत साधक धीरे-धीरे सभी कर्मों को भगवान को अर्पित करने लगता है और साधक में भक्तिभाव उत्पन्न हो जाता है। इस अवस्था में साधक जो भी कर्म करता है, वह परमात्मा को अर्पित करते हुए करता है। साधक परमात्मा में अपनी श्रद्धा बनाए रखते हुए उत्साह के साथ कर्म करता है। इस सम्बन्ध में गीता में कहा गया है-

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥[3]

अर्थात् हे अर्जुन! तू जो भी कर्म करता है, जो खाता है, जो हवन करता है, जो दानादि देता है, जो तप करता है; वह सब मुझको अर्पण कर। ईश्वर के प्रति समर्पित कर्म व उसके फल सम्बन्ध को बताते हुए कहा गया है-

---

1. गीता 2/48
2. वही 2/49
3. वही 9.27

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा॥[1]

अर्थात् ब्रह्म को अर्पित करके अनासक्तिपूर्वक कर्म करने वाला, उसके फल से वैसे ही अलग रहता है; जैसे जल में कमल का पत्ता। कर्मयोग की साधना में रत व्यक्ति में उच्च अवस्था की स्थिति आने पर स्वयं कर्ता की भावना समाप्त हो जाती है। इस अवस्था में साधक अनुभव करता है कि मेरे द्वारा जो भी कर्म किये जा रहे हैं, उन सबको करने वाले ईश्वर ही हैं।

इस प्रकार से साधक कर्म करता हुआ भी बंधन से मुक्त रहता है। उसके द्वारा किये गये कर्म से किसी भी प्रकार के संस्कार उत्पन्न नहीं होते। इस प्रकार के कर्म मुक्ति को दिलाने वाले होते हैं। कर्मयोग की साधना से साधक के लौकिक व पारमार्थिक-दोनों पक्षों का उत्थान होता है। कर्मयोग के मार्ग से ही साधक गृहस्थ जीवनयापन करते हुए भी साधना कर सकता है तथा मुक्ति प्राप्त कर सकता है। यजुर्वेद के 40 अध्याय में भी निष्काम कर्म की बात कही गई है-

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्॥[2]

मनुष्यों को वेदों का आदेश है कि इस सृष्टि में (ब्रह्माण्ड में) जो कुछ चर और अचर तुम्हारे देखने सुनने में आ रहा है, वह सब कुछ उस सर्वनियन्ता, सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ परमेश्वर का है। वही सब में व्याप्त है। ऐसा समझकर उस परमपिता का स्मरण करते हुए तुम इस संसार में ममता और आसक्ति को त्याग कर, केवल कर्तव्यपालन हेतु उसके द्वारा प्रदत्त विषयों का उपभोग करो; क्योंकि ये पदार्थ किसी के भी नहीं हैं। मनुष्य भूल से उनमें आसक्त होता है।

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥[3]

1. गीता 5/10
2. यजुर्वेद 40/1
3. वही 40/2

सब कुछ उस सर्वशक्तिमान् ब्रह्म ही का समझकर उसी की पूजा के लिए शास्त्रविहित कर्तव्य कर्मों का अनुष्ठान करते हुए सौ वर्ष जीवन जीने की इच्छा करे; कर्मों का सुखरूप फल भोगने की इच्छा से नहीं। इस प्रकार आचरण करने वाला कर्मफल से अलिप्त रहता है। अन्य कोई मार्ग कर्मबन्धन से मुक्ति का नहीं है।

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा।।[1]

जिसका आहार-विहार नियमित है, कर्मों में चेष्टायें जिसकी संयमित हैं (जिसकी मनःशांति निश्चल है) और जिसका सोना-जागना परिमित है, केवल उसी को यह योग सिद्ध होता है और उसके दुःखों का नाश करने वाला होता है। महर्षि चरक ने चरक संहिता में मनुष्य को स्वस्थ रहने के लिए तीन तरह का भोजन बताया है-

हितभुक्- अर्थात् हितकर भोजन खाना चाहिए।

मितभुक्- अर्थात् कम खाना चाहिए। भले ही हितकारी भोजन हो अधिक मात्रा में खाना नुकसानदायक हो सकता है।

ऋतुभुक- अर्थात् ऋतु के अनुसार ही भोजन करना चाहिए

गीता के अनुसार कर्म

भगवद्गीता में तीन प्रकार के कर्म बताये हैं; जो इस प्रकार है-

- **कर्म**- शास्त्र के अनुकूल, वेदों के अनुकूल किये गये कर्म।
- **अकर्म**- अकर्म का अर्थ है कर्म का अभाव; अर्थात् तृष्णा का अभाव।
- **विकर्म**- अर्थात् जो निषिद्ध (पाप) कर्म है, वह विकर्म है।

इनका अन्य विभाजन इस प्रकार गीता में दो प्रकार से किया गया है-

- **सकाम कर्म**-स्वयं के लाभ के लिए कर्म।

1. गीता 6/17

- **निष्काम कर्म**-स्वार्थहीनता वाले कर्म।

महर्षि पतंजलि के अनुसार कर्म :-

कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम्।[1]

अर्थात् शुक्ल कर्म, कृष्ण कर्म, शुक्लकृष्ण कर्म, तथा अशुक्लाकृष्ण कर्म- ये कर्म के चार भेद है।

1. **शुक्लकर्म**- जो कर्म श्रेष्ठ हैं, अर्थात् वेदों में बताई गई विद्याओं के आधार पर किये जाते है। इस शुक्ल कर्म से स्वर्ग लोक की प्राप्ति होती है।
2. **कृष्ण कर्म**- जो कर्म पाप कर्म हैं, उन्हे कृष्ण कर्म कहा है। इन कृष्ण कर्मो से दु:ख तथा नरक की प्राप्ति होती है तथा इन कर्मो के फलों को जन्म-जन्मान्तर तक भोगना पड़ता है।
3. **शुक्लकृष्णकर्म**- ऐसे कर्म जो पाप व पुण्य के मिश्रण हों। कहा गया है कि शुक्लकृष्ण कर्म से पुन: मनुष्य के जन्म की प्राप्ति होती है।
4. **अशुक्लाकृष्णकर्म**- न तो पाप कर्म हैं, न पुण्य कर्म हैं, और न पाप-पुण्य मिश्रित कर्म हैं। इन सब से भिन्न ये कर्म निष्काम कर्म हैं; क्योंकि ये कर्म किसी भी कामना के लिए नहीं किये जाते हैं। इन कर्मों को करने से अन्त:करण शुद्ध पवित्र तथा दर्पण की भाँति स्वच्छ छवि वाला निर्मल बन जाता है। शीघ्र ही ऐसे साधक को वास्तविक तत्त्वज्ञान (आत्मा के ज्ञान) की प्राप्ति होती है या अन्त में निश्चित उसे कैवल्य की प्राप्ति होती है।

शास्त्रों में कर्म के भेद- कर्म मुख्य रूप से दो प्रकार के होते हैं क. विहित कर्म, ख. निषिद्ध कर्म-

क. **विहित कर्म**- सुकृत कर्म अर्थात् अच्छे कर्म। **विहित कर्म** के भी चार भेद हैं- **नित्यकर्म, नैमित्तिक कर्म, काम्य कर्म तथा प्रायश्चित कर्म।**

---

1. योगसूत्र 4/7

1. **नित्य कर्म**- प्रतिदिन किये जाने वाला कर्म जैसे वन्दना, पूजा, अर्चना, सन्ध्या इत्यादि।

2. **नैमित्तिक कर्म**- जो कर्म किसी प्रयोजन के लिए किये जाते हैं; उदाहरणार्थ, किसी त्यौहार या पर्व पर अनुष्ठान करना, जैसे पुत्र के जन्म होने पर जातकर्म, बड़े होने पर यज्ञोपवीत इत्यादि।

3. **काम्य कर्म**- ऐसे कर्म जो किसी कामना या किसी प्रयोजन के लिए किये जाते हैं। जैसे नौकरीप्राप्ति के लिए, पुत्र की प्राप्ति के लिए, स्वर्ग की प्राप्ति के लिए, अकाल पड़ने पर वर्षा करने के लिए हवन या अनुष्ठान इत्यादि- ये काम्य कर्म है।

4. **प्रायश्चित कर्म**- जैसा कि नाम से स्पष्ट होता है कि अगर किसी व्यक्ति द्वारा कोई अनैतिक काम या पाप हो जाये, तो उसके प्रायश्चित के लिए वो जो कर्म करता है; उसे प्रायश्चित कर्म कहते हैं।

ख. **निषिद्ध कर्म**- निषिद्ध कर्म अर्थात् जो कर्म शास्त्र के अनुकूल नहीं हैं, यथा चोरी, हिंसा, झूठ, व्याभिचार इत्यादि कर्म निषिद्धकर्म हैं। हम जो भी कर्म करते हैं, हमारा मन, आत्मतत्त्व उसे करने या न करने के लिए प्रेरित करता है।

वेदान्त के अनुसार कर्म-

वेदान्त के अनुसार कर्म के तीन प्रकार है:- संचित कर्म, प्रारब्ध कर्म, क्रियमाण कर्म।

क. **संचित कर्म**- पूर्वजन्म में हमने जो अनेकों शरीर धारण किये हैं, उन शरीरों में हमने जो कर्म किये वो संचित कर्म कहलाते हैं। हमारे जन्म-जन्मान्तरों के संस्कार चित्त में संचित पड़े रहते हैं। इन्हीं कर्म-संस्कारों के समूहों को संचित कर्म कहते है।

ख. **प्रारब्ध कर्म**- प्रारब्ध कर्म ऐसे कर्म हैं, जो संचित कर्मों में अति प्रबल हैं। ये कर्म इतने बलवान् होते हैं कि कर्मों का फल भोगने

के लिए अगले जन्म में जाते हैं। हमारे सुख या दु:ख की उत्पत्ति प्रारब्ध कर्म के अनुसार ही होती है।

ग. **क्रियमाण कर्म**- इन्हें आगामी कर्म के नाम से भी जाना जाता है। आगामी अर्थात् आगे अगले जन्म में फलीभूत होने वाला कर्म व्यक्ति ने जिन कर्मों का आरम्भ अभी नहीं किया, है वह आगामी कर्म हैं, जो भविष्य में फल प्रदान करते हैं। आगामी कर्म मनुष्य के अधीन हैं इनको चाहे तो हम बना सकते हैं चाहे तो बिगाड़ सकते हैं। अंत में यही कहा जा सकता है कि -

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्॥[1]

समत्व बुद्धि से युक्त जो मनीषी जन कर्मफल का त्याग करते हैं, वे जन्म-बन्धन से मुक्त होकर दु:खविरहित (सर्वोपद्रवरहित-रोग-शोक से रहित) पद को प्राप्त कर लेते हैं; अर्थात् मोक्ष को प्राप्त करते हैं।

भक्तियोग

भारतीय चिन्तन में ज्ञान तथा कर्म के साथ भक्ति को कैवल्य प्राप्ति का साधन माना है। **भज् सेवायाम्** धातु से 'क्तिन' प्रत्यय लगाकर 'भक्ति' शब्द बनता है; जिसका अर्थ सेवा, पूजा उपासना और संगतिकरण करना आदि होता है। भक्तियोग प्रेम की उच्च पराकाष्ठा है। ईश्वर के प्रति अत्यधिक प्रेम ही भक्ति है। जब व्यक्ति संसार के भौतिक पदार्थों से मोह त्याग कर अनन्य भाव से ईश्वर की उपासना करता है भक्तियोग कहलाता है। भक्ति नाम प्रेम-विशेष अर्थात् ईश्वर के प्रति उत्कट प्रेम विशेष का नाम ही भक्ति है। भक्तियोग का मार्ग भाव-प्रधान साधकों के लिए अधिक उपयुक्त माना गया है। इस मार्ग में साधक का चित्त आसानी से एकाग्र हो जाता है। यह मार्ग अति सरल है। शाण्डिल्य भक्तिसूत्र में **सा भक्तिः परानुरक्तिरीश्वरे**[2] अर्थात् ईश्वर में परम

1. गीता 2/51
2. शाण्डिल्य भक्तिसूत्र 1/2

अनुरक्ति भक्ति है। भक्तियोग की परिभाषा देते हुए नारद भक्तिसूत्र में कहा गया है: **मा तस्मिन् परम प्रेमरूपा**[1] अर्थात् प्रभु के प्रति परम प्रेम को भक्ति कहते हैं। इस प्रकार ईश्वर के प्रति अनन्य प्रेम में डूब जाना भक्ति कहलाता है। यह तो निश्चित है कि भक्त, ईश्वर की भक्ति किसी प्रयोजन से करता है। भगवान् श्रीकृष्ण गीता में भक्तों के भेदों को बताते हुए कहते हैं-

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥[2]

अर्थात् हे भरतवंशी अर्जुन! चार प्रकार के पुण्यशाली मनुष्य मेरा भजन करते हैं; यानि उपासना करते हैं। वे हैं- आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी तथा ज्ञानी।

1. **आर्त भक्त**- आर्त भक्त वो कहलाते हैं, जब वे गम्भीर संकट में फंस जाते हैं; तो वे अपने आराध्य को आर्त भाव से पुकारते हैं और उसकी शरण में जाते हैं।

2. **जिज्ञासु भक्त**- जिज्ञासु जैसा नाम से स्पष्ट है कि जिज्ञासा रखने वाले अर्थात् किसी वस्तु को अर्थात् आत्मा या ब्रह्म को जानने की इच्छा रखने वाले हैं, ऐसे भक्त जिज्ञासु भक्त कहलाते है।

3. **अर्थार्थी भक्त**- संसार के समस्त व्यक्ति इसी श्रेणी में आते हैं; ऐसे भक्त किसी सांसारिक वस्तु, मकान, जमीन, धन, स्त्री, वैभव, मान-सम्मान, परीक्षाओं में सफलता, विवाह के लिए अपने आराध्य को भजते हैं; ऐसे भक्त अर्थार्थी भक्त कहलाते हैं।

4. **ज्ञानी भक्त**- ज्ञानी भक्त ऐसे भक्त है; जो अपने आत्मकल्याण के लिए, ब्रह्म की प्राप्ति के लिए, अपने आराध्य को भजते हैं। इन चार प्रकार के भक्तों में ज्ञानी भक्त श्रेष्ठ होते हैं।

---

1. शाण्डिल्य भक्तिसूत्र 1/2
2. गीता 7/16

नवधा भक्ति

भागवत पुराण में परमात्मा को प्राप्त करने के लिए नौ प्रकार से भक्ति करने की विधि का वर्णन किया गया है; जिसे हम नवधा भक्ति के नाम से जानते हैं। नवधा भक्ति, भक्तियोग का बड़ा महत्त्वपूर्ण पक्ष है। नौ प्रकार से भगवान की भक्ति की जाती है। भागवत पुराण में कहा गया है-

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥[1]

अर्थात् श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, दास्य, साख्य और आत्मनिवेदन- ये भक्ति के नौ भेद हैं।

1. **श्रवण भक्ति**- परमपिता परमेश्वर- आराध्य इष्ट के दिव्य गुणों व लीला आदि विषय में सुनना श्रवण भक्ति कहलाती है।
2. **कीर्तन भक्ति**- कीर्तन से आप भलीभाँति परिचित होंगे। भगवान् के दिव्य गुणों, लीला का गायन इत्यादि कीर्तन भक्ति कहलाती है।
3. **स्मरण भक्ति**- सर्वत्र भगवान् का स्मरण करना। अपने आराध्य की लीला, गुणों का निरन्तर अनन्य भाव से स्मरण करना स्मरण भक्ति कहलाती है।
4. **पादसेवन भक्ति**- भगवान् के चरणों की सेवा करना पादसेवन भक्ति कहलाती है। यह भक्ति एक तो भगवान् के चरणों का चिन्तन करते हुए तथा दूसरी उनकी प्रतिमा में चरणों को धोकर श्रद्धाभाव से साधना करते हुए की जाती है।
5. **अर्चन भक्ति**- अर्चन भक्ति का अर्थ है- पूजन करना। यह पूजन मानसिक रूप से या स्थूल रूप से अपने आराध्य की हो सकती है।

---

1. भागवत पुराण

6. **वन्दन भक्ति**– भाव भरे मन से भगवान् की वन्दना करना वन्दन भक्ति का उदाहरण है। वैदिक ऋचाओं अथवा भक्तों के द्वारा कृत भगवान् की स्तुति का पाठ करना वन्दन भक्ति का उदाहरण है।

7. **दास्य भक्ति**– अपने आपको भगवान् का दास समझना, अपने आपको भगवान् का सेवक समझना दास्य भक्ति का उदाहरण है। जैसे हनुमान्जी श्रीरामचन्द्रजी के प्रति रखते थे।

8. **सख्य भक्ति**– सख्य का अर्थ है अपने आराध्य को अपना मित्र समझना। जैसे सुदामा–कृष्ण, अर्जुन–कृष्ण इस भक्ति के उदाहरण है।

9. **आत्म निवेदन भक्ति**– अपने को भगवान् के स्वरूप में अर्पण कर देना कहलाती है।

रागात्मिका भक्ति– जब नवधा भक्ति अपनी चरम अवस्था में होती है, तब रागात्मिका भक्ति की शुरूवात होती है। जब नवधा भक्ति में साधक चरम अवस्था को पार कर जाता है और अन्तःकरण में एक अलौकिक भगवत्प्रेमभाव उत्पन्न होने लगता है, तो यह रागात्मिका भक्ति की एक आनुभूतिक अवस्था होती है। ऐसी अवस्था में साधक अपने आराध्य की झलक का अनुभव कर सकता है। उसे अपने आराध्य सभी जगह पर दिखाई देने लगते हैं, वह भी सजीव। यही रागात्मिका भक्ति कहलाती है।

पराभक्ति– रागात्मिका भक्ति की चरम अवस्था है– पराभक्ति। यह साधक की उत्कृष्ट और अन्तिम पराकाष्ठा है। पराभक्ति में द्वैत नहीं रहता है, इस अवस्था में उपासक और आराध्य एक हो जाते हैं और साधक को एकमात्र ब्रह्म का साक्षात्कार होता है। महर्षि पतंजलि ने इसी अवस्था को योगदर्शन में कैवल्य कहा है।

संन्यासयोग

भारतीय संस्कृति में **धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष**– चार तरह के

पुरुषार्थ की बात कही गयी है। ये अति महत्त्वपूर्ण है। पहला स्थान धर्म का है। **धारणात् धर्मः** अर्थात् जो सारे समाज को धारण करता है, वही धर्म है। और जो धर्म को धारण करता है, वही मनुष्य है। वेद भी कहता है– **मनुर्भव।** भारतीय चिंतन में मानव जीवन का परम उद्देश्य आवागमन के चक्र से मुक्त होना या मोक्ष प्राप्त करना है। भगवान् श्रीकृष्ण के समय में कुछ लोगों द्वारा अग्नि को न छूने वाले तथा चिन्तन का भी त्याग करके अपने को योगी, संन्यासी कहने वालों का सम्प्रदाय बनाया जा रहा था। इसका खण्डन करते हुए उन्होंने स्पष्ट किया कि ज्ञानमार्ग तथा भक्तिमार्ग, दोनों में से किसी भी मार्ग के अनुसार कर्म को त्यागने का विधान नहीं है, कर्म तो करना ही होगा। कर्म करते-करते साधना इतनी सूक्ष्म हो जाती है कि सर्वसंकल्पों का अभाव हो जाता है, वह पूर्ण सन्यास है। बीच रास्ते में सन्यास नाम की कोई वस्तु नही है। केवल क्रियाओं को त्याग देने से तथा अग्नि न छूने से न तो कोई सन्यासी और न ही योगी होता है। गीता के अंतिम अध्याय का नाम है-मोक्ष सन्यास योग। गीता में भी अन्य उपनिषदों की तरह गुरु-शिष्य-परंपरा का निर्वाह किया गया है। यहाँ शिष्य अर्जुन है; जो गुरु अर्थात् भगवान् श्रीकृष्ण का मित्र भी है, सखा भी और भक्त भी। उसकी अपनी शंकाएँ या समस्याएँ इतनी अधिक नहीं हैं जितनी सामाजिक हैं। भगवान् श्रीकृष्ण उनका निराकरण करते हैं। अट्ठारहवें अध्याय से पूर्व पाँचवें अध्याय में भी भगवान् श्रीकृष्ण ने संन्यास और मोक्ष की बात कही है। वहाँ अर्जुन ने श्रीकृष्ण से पूछा आप कर्म के त्याग की बात करते हैं और फिर आप कर्मयोग की प्रशंसा करते हैं। इन दोनों में जिस एक का भी आप ने मोक्ष साधनरूप में निश्चय किया हो, वह मुझ से स्वयं निर्णय करके कहो। तब भगवान् ने कहा–

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते।।[1]

हे अर्जुन। संन्यास और कर्म योग– दोनों ही यद्यपि मोक्ष के

1. गीता 5.2

साधन हैं, तथापि दोनों में संन्यास की अपेक्षा कर्मयोग ही श्रेष्ठ है। लेकिन अर्जुन की शंका का पूर्णत: समाधान नहीं हुआ। इसलिए अंतिम अध्याय में **अर्जुन** फिर कहता है-

संन्यासस्य महाबाहो तत्वमिच्छामि वेदितुम्।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन।।[1]

हे महाबाहो!, हे हृषीकेश! हे केशी दैत्य के संहारक श्रीकृष्ण!, मैं आपसे संन्यास और त्याग-दोनों के तत्त्व को अलग-अलग जानना चाहता हूँ। अलग-अलग अर्थात् विश्लेषण करके। अब सबसे अधिक विशेष बात यह है कि भगवान् भी अपनी बात कहने से पूर्व संन्यास और त्याग के बारे में विभिन्न विद्वानों का मत प्रकट करते हैं। भगवान् ने कहा-

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदु:।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणा:।।[2]
त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिण:।
यज्ञदानतप: कर्म न त्याज्यमिति चापरे।।[3]

कुछ विद्वान् कामना के लिए किये जाने वाले कर्मों के त्याग को संन्यास कहते हैं और कुछ पंडित कर्मों के फल के त्याग को त्याग अर्थात् संन्यास कहते हैं। कुछ विद्वान् ऐसे हैं; जिन्हें सभी कर्मों में दोष की आशंका रहती है। इस कारण से वे सभी कर्मों के त्याग की बात करते हैं। इनके अनुसार कोई कर्म दोषरहित नहीं हो सकता। अच्छे कर्म करते समय भी कुछ-न-कुछ बुरा काम हो ही जाता है। जैसे हवन करते समय लकड़ी के साथ छोटे-छोटे जीव जंतु मर जाते हैं। खेत में हल चलाते समय कोई-न-कोई जीव अवश्य मर जाते हैं। युद्ध के समय अनेक अनजानी मृत्यु हो जाती हैं। अत: सभी कर्मों का त्याग कर देना चाहिए। कुछ विद्वान ऐसे हैं; जो यज्ञ, दान, तप आदि कर्मों को न छोड़ने

---

1. गीता 18.1
2. वही 18/2
3. वही 18/3

की बात कहते हैं। इन व्याख्यायों के परिणामस्वरूप ही लोग प्रमादी हो गए। बाह्य रूप से वे स्वयं को अनजाने पाप कर्म से बचाने की बात कह रहे थे। लेकिन वास्तविक रूप में ये कर्म न करने में प्रवृत्त हो गए थे अर्थात् कर्म से भागना। अर्जुन भी इस कर्म न करने की प्रवृत्ति का प्रतीक बन रहा था। अतः अब भगवान कृष्ण ने 18वें अध्याय के चौथे श्लोक से 12वें श्लोक तक अर्जुन को अपना मत बताया, वे कहते हैं, संन्यास का वास्तविक अर्थ है– कर्तापन का त्याग, कर्मों के फल का त्याग करना है अर्थात् पूर्ण त्याग ही संन्यास है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि कर्मों का त्याग करना सरल है। परन्तु कर्म करके उसके फल का त्याग करना कठिन है। लेकिन सृष्टि को गतिशील रखने के लिए कर्म करना आवश्यक है।

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः सम्प्रकीर्तितः॥[1]

हे पुरुषश्रेष्ठ अर्जुन! संन्यास और त्याग– इन दोनों में से पहले त्याग के विषय में तू मेरा निश्चय सुन; क्योंकि त्याग **(सात्विक, राजस और तामस) तीन प्रकार का कहा गया है।** संन्यास की इच्छा रखने वाले को पहले त्याग का आश्रय लेना होगा। उसे पहले अपनी जिम्मेदारियों को पूरा करना चाहिये। अदृश्य–अप्रत्यक्ष अपूर्ण चाहत–इच्छाएँ, मोह, जुड़ाव मनुष्य को कर्म और कर्मफल की ओर प्रवृत्त करते हैं। इनका मन से गहरा सम्बन्ध है और यही मनुष्य को कर्म करने के लिये मजबूर करते हैं। ऋषि–मुनि उस कर्म के त्याग की बात करते हैं, जो कि आकांक्षाओं अभिलाषाओं से जुड़ा है। विचारशील, पण्डित, विद्वान–ज्ञानी सभी कर्मों के छोड़ने की बात कहते हैं।

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥[2]

यज्ञ, दान और तपरूप कर्म त्याग करने के योग्य नहीं है; बल्कि

1. गीता 18.4
2. वही 18.5

वह तो अत्यावश्यक-जरूरी कर्तव्य है। कारण यज्ञ, दान और तप- ये तीनों ही कर्म बुद्धिमान पुरुषों-मनीषियों को पवित्र करने वाले हैं। नित्य, नैमित्तिक, जीविका सम्बन्धी, शरीर सम्बन्धी आदि जितने भी कर्तव्य कर्म बताये गए हैं; वे सभी अनिवार्य हैं। अगर कोई कर्म अपनी भलाई और दूसरे का बुरा करने के लिए किया जाये, तो वो भी अपवित्र करने वाला, लोक-परलोक में भी महान् दु:ख देने वाला बन जाता है।

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्त्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्।।[1]

हे पार्थ! इन यज्ञ, दान और तपरूप कर्मों को तथा और भी सम्पूर्ण कर्तव्य-कर्मों को आसक्ति और फलों की इच्छा का त्याग करके करना चाहिए; यह मेरा निश्चय किया हुआ उत्तम मत है। यज्ञ, दान और तपरूप कर्मों के साथ-साथ मनुष्य को पठन-पाठन, खेती-बाड़ी, जीविका हेतु तथा नित्य कर्म खाना-पीना, उठना-बैठना, सोना-जागना आदि शारीरिक कर्म और परिस्थितिजन्य आवश्यक कर्तव्य-कर्मों को आसक्ति-फलेच्छा का त्याग करके जरूर करना चाहिये। अपनी कामना, ममता, और आसक्ति का त्याग करके कर्मों को केवल प्राणिमात्र के भले के लिए करने से कर्मों का प्रवाह संसार के लिए और योग का प्रवाह स्वयं के लिये हो जाता है; और अपने हेतु किया गया कर्म-बन्धन-कारक हो जाता है। भगवान् श्रीकृष्ण ने चार प्रचलित मतों का उल्लेख किया है : पहले मत में कर्मों का त्याग, दूसरे में संपूर्ण कर्मफलों का त्याग, तीसरे में दोषयुक्त होने के कारण सभी कर्मों का त्याग तथा चौथे में यज्ञ, दान और तपरूप कर्मों को कभी त्याग नहीं करना चाहिए। यह मेरा निश्चय किया हुआ उत्तम मत है। भगवान् अब त्याग का विश्लेषण करते हैं:-

तामसिक त्याग

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः।।[2]

1. गीता 18.6
2. वही 18.7

नियत कर्म का त्याग करना उचित नहीं है। उसका मोहपूर्वक त्याग तामस कहा गया है। तामस त्याग सर्वथा निकृष्ट है। नियत कर्मों को मूढ़तापूर्वक, बिना विचार किये, विवेकहीनता के साथ छोड़ना तामस त्याग है। मोह में उलझ जाना तामस पुरुष का स्वभाव है। सामान्य स्वरूप से कर्मों को छोड़ देना त्याग नहीं है। बाहरी रूप से त्याग को असली त्याग माना जाये, तो मरने वाले का कल्याण हो जाना चाहिये; क्योंकि मरते ही उसके सारे दायित्व, बन्धन, धन, जमीन-जायदाद, संबन्धी-नातेदार-रिश्तेदार- आदि सबका त्याग हो जाता है।

राजसिक त्याग

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत्।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत्।।[1]

जो कर्म (स्वधर्म के अनुसार) नियत अर्थात् निश्चित हो गये हैं, अवश्य कर्तव्य हैं। उन शास्त्रविहित कर्मों का त्याग करना (किसी को भी) उचित नहीं है। उनका मोह के वशीभूत किया गया त्याग तामस त्याग कहा जाता है।

राजस स्वभाव का व्यक्ति यज्ञ, दान, शास्त्रीय और नियत कर्मों का त्याग यह सोचकर करता है कि इनमें सिवाय कष्ट, खर्च, दुःख और समय की बरबादी के कुछ नहीं है; तो इसका कारण उसका परलोक, शास्त्र, शास्त्रविहित कर्म और इनके परिणामों पर विश्वास का न होना है।

कर्तव्य-जनित कर्म त्याज्य नहीं हैं। इनके त्याग से आलस्य, प्रमाद और अतिनिद्रा उत्पन्न होते है; जो कि पतन का कारण बनते हैं। शुभ कर्मों के त्याग से शांति नहीं मिलती, अपितु मनुष्य दण्ड का भागी हो जाता है।

1. गीता 18.8

सात्त्विक त्याग

> **कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन।**
> **सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः॥[1]**

हे अर्जुन! आसक्ति और फल का त्याग करके किया गया शास्त्र-विहित कर्म कर्तव्य मानकर करना ही सात्त्विक त्याग है। जो कर्म विशुद्ध कर्तव्य मान कर किया जाता है; जिसमें फलासक्ति नहीं है, कोई स्वार्थ नहीं है, क्रियाजन्य सुखभोग भी नहीं है; तो उससे सम्बन्ध-विच्छेद तो स्वतः हो गया, इससे कोई बन्धन नहीं होगा। शास्त्र कर्मों में देश, काल, वर्ण, आश्रम और परिस्थिति के अनुसार, जो भी कर्म किये गए, वे सभी नियत कर्म हैं। फल के त्याग का अर्थ है- कर्म के फल की इच्छा न होना। कर्म और फल में आसक्ति तथा कामना का त्याग करने से कर्तव्य मात्र समझकर किया गया काम करने से वह कार्य सात्त्विक हो जाता है।

> **न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते।**
> **त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः॥[2]**

जो मनुष्य अकुशल कर्म से द्वेष नहीं करता और कुशल कर्म में आसक्त नहीं होता, वह शुद्ध सत्त्व गुण से युक्त पुरुष संशयरहित, बुद्धिमान और सच्चा त्यागी है तथा अपने स्वरूप में स्थित है। जो भी शास्त्रविहित शुभ कर्म फलेच्छा से किया जायेगा, वो पुनर्जन्मकारक होगा। शास्त्रनिषिद्ध पाप कर्म करने से नीच योनियों या नरक में ले जायेगा। ये कर्म अकुशल कर्म कहलाते हैं।

> **न हि देहभृतां शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।**
> **यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते॥[3]**

शरीरधारी किसी भी मनुष्य द्वारा सम्पूर्ण कर्मों का त्याग किया

---

1. गीता 18.9
2. वही 18.10
3. वही 18.11

जाना सम्भव नहीं है। इसलिए जो कर्मफल का त्यागी है, वही त्यागी है। यह कहा जाता है मनुष्यों के द्वारा कर्मों का पूर्ण रूप से त्याग करना संभव नहीं है; क्योंकि शरीर प्रकृति का अंग है। मनुष्य यज्ञ, तप, दान, तीर्थ, जैसे कर्मों को भले ही छोड़ दे। परन्तु खाना-पीना, उठना-बैठना, चलना-फिरना, सोना-जागना आदि नहीं छोड़ सकता। ये बाहरी सम्बन्ध नहीं छूट सकते, सम्बन्ध अन्दर से-मन से छोड़ना है। कर्मों का आरम्भ किये बिना निष्कर्मता-योगनिष्ठा भी प्राप्त नहीं होती है। जब तक मनुष्य जिन्दा है, उसकी साँस चल रही है, हृदय धड़क रहा है; वह कर्म कर रहा है पुरुष चेतन, निर्विकार, एकरस तथा प्रकृति विकारी, परिवर्तनशील है। जब तक पुरुष प्रकृति के साथ तादात्म्य मानता रहेगा, उसका कर्मों से सम्बन्ध बना रहेगा। पुरुष ने प्रकृति से सम्बन्ध जोड़ा है, ना कि प्रकृति ने पुरुष से। स्वयं को शरीर मानने से अहंता और शरीर को अपना मानने से ममता होती है। अहंता-ममता की घनिष्ठता देहधारी को कर्मों से मुक्त नहीं होने देती। इससे आसक्ति, कर्मासक्ति, फलासक्ति होती है; मगर विवेक उसे निर्विकार बनाता है, अभिमान नहीं आने देता और विवेकी-निराभिमानी अंत:करण से कर्म व कर्मफल का त्याग कर देता है।

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम्।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित्॥[1]

कर्मफल का त्याग न करने वाले मनुष्यों के कर्मों का तो अनिष्ट- बुरा, इष्ट- अच्छा और मिश्रित- मिला हुआ; ऐसे तीन प्रकार के फल मरने के पश्चात् अवश्य मिलते हैं। किन्तु कर्मफल का त्याग करने वाले मनुष्यों के कर्मों का फल किसी काल में भी नहीं होता। ज्यादातर मनुष्यों को मिश्रित कर्मफल की प्राप्ति ही होती है। जो त्यागी-संन्यासी है, उसे इहलोक या परलोक कहीं भी कर्मफल का भुगतान नहीं करना पड़ता; क्योंकि वह अपने लिए कुछ भी नहीं करता। कर्मयोगी का भाव यह है कि अपना कुछ नहीं है, अपने लिए कुछ नहीं चाहिये और अपने लिए कुछ नहीं करना।

1. गीता 18.12

सभी कर्मों की सिद्धि के लिए सांख्य सिद्धांत के 5 कारण :-

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम्।।[1]

हे महाबाहो! सांख्य-शास्त्र में कर्मों का अंत करने वाले, सम्पूर्ण कर्मों की सिद्धि के लिये ये पाँच हेतु- कारण बताये गए हैं; उनको तू मुझ से भली भाँति जान, जो कर्म शास्त्रविहित है या शास्त्रनिषिद्ध है, शारीरिक हो या मानसिक अथवा वाचिक, स्थूल हो या सूक्ष्म- इन सबके 5 हेतु बताये गए हैं। इन कर्मों में कर्तव्य- कर्तव्याभिमान रहने पर कर्म सिद्धि और कर्म संग्रह- दोनों होते हैं। जब इन कर्मों में कर्तव्य नहीं रहता, तब कर्म सिद्धि तो होती है; मगर कर्म संग्रह नहीं होता। सांख्य सिद्धान्त में विवेक-विचार की प्रधानता है। सांख्य योग में अहंता (मैं पन) का त्याग मुख्य है; जिससे ममता (मेरा पन) का त्याग स्वत: हो जाता है।

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्।।[2]

सम्पूर्ण कर्मों की सिद्धि के लिये सांख्यशास्त्र में पाँच हेतु- कारण बताये गए हैं जो इस प्रकार है- 1. अधिष्ठान= शरीर, 2. कर्ता= जीवात्मा, 3. करण= साधन-इन्द्रियाँ है-5 ज्ञानेन्द्रियाँ, 5 कर्मेन्द्रियाँ, 1 मन, 1 बुद्धि, 1 अहंकार 4. चेष्टा= क्रियाएँ विविध चेष्टाऐं, 5. दैव= संस्कार, मन के संस्कार।

इस विषय में कर्ता (यह मन), पृथक्-पृथक् करण जिनके द्वारा किया जाता है। यदि शुभ पार लगता है; तो विवेक, वैराग्य, शम, दम, त्याग, अनवरत चिन्तन की प्रवृत्तियाँ इत्यादि करण होंगी। यदि अशुभ पार लगता है, तो काम, क्रोध, राग, द्वेष, लिप्सा इत्यादि करण होंगे; इनके द्वारा प्रेरित होंगे।, नाना प्रकार की न्यारी-न्यारी चेष्टाएँ (अनन्त इच्छाएँ), आधार अर्थात् साधन (जिस इच्छा के साथ साधन मिला, वही

1. गीता 18.13
2. वही 18/14

इच्छा पूरी होने लगती है।) और पाँचवाँ हेतु है– दैव अथवा मन के संस्कार इसकी पुष्टि करते हैं।

शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः॥[1]

मनुष्य मन, वाणी और शरीर से कुछ कर्म आरम्भ करता है। परन्तु ऐसा होने पर भी शरीर से, वाणी से और मन से मनुष्य जो-जो कर्म प्रारम्भ करता है, चाहे वह शास्त्र के अनुसार अथवा विपरीत न्याययुक्त हैं अथवा अन्याय से युक्त हों; उसके ये पाँचों ही कारण हैं।

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः॥[2]

वास्तविक स्थिति ऐसी होने पर भी शास्त्र और आचार्य के उपदेश द्वारा तथा तर्क द्वारा बुद्धि होने के कारण जो यह समझता है कि मैं अकेला ही कर्ता हूँ, समझना चाहिए कि वह दुर्मति कुछ नहीं जानता। या केवल शुद्ध आत्मा को (उन कर्मों का) कर्ता समझता है, वह वास्तव में कुछ भी नहीं समझता; अर्थात् वह यथार्थ नही जानता है।

इस प्रश्न पर योगेश्वर श्रीकृष्ण ने दूसरी बार बल दिया। अध्याय 5 में उन्होंने कहा कि वह प्रभु न करता है, न कराता है, न क्रिया के संयोग को जोड़ता है। तो लोग कहते क्यों हैं? मोह से लोगों की बुद्धि आवृत्त है, इसलिये कुछ भी कह सकते हैं। यहाँ भी कहते हैं कि कर्म होने में पाँच कारण हैं। उसके बावजूद भी जो कैवल्यस्वरूप परमात्मा को कर्त्ता देखता है, वह मूढबुद्धि (दुर्बुद्धि) यथार्थ नहीं देखता। आशय यह है कि भगवान् कुछ नहीं करते, जबकि अर्जुन के लिये वे ताल ठोंककर खड़े हो जाते हैं : **निमित्तमात्रं भव** कर्ता-धर्ता तो मैं हूँ, तू निमित्त बनकर खड़ा भर रह। अन्ततः वे कहना क्या चाहते हैं? वस्तुतः भगवान् और प्रकृति के बीच एक आकर्षण रेखा है। जब तक साधक प्रकृति की सीमा में है, तब तक भगवान् नहीं करते। बहुत समीप रहकर

1. गीता 18/15
2. वही 8/16

भी द्रष्टारूप में ही रहते हैं। अनन्यभाव से इष्ट को पकड़ने पर वे हृदय-देश से संचालक बन जाते हैं। साधक प्रकृति की आकर्षक सीमा से निकलकर उनके क्षेत्र में आ जाता है। ऐसे अनुरागी के लिये वे ताल ठोंककर सदैव खड़े रहते हैं। केवल उसी के लिये भगवान् करते हैं।

लोक संहारः-

यस्य नाहङ्कृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते॥[1]

जिस पुरुष के अंतःकरण में मैं कर्ता हूँ- ऐसा भाव नही है तथा जिसकी बुद्धि अलिप्त है (आसक्ति रहित है) वह पुरुष भीष्मादि को ही नहीं इन सब लोगों को मारकर भी मारने वाला नहीं है और न ही बँधता है। अर्थात् अतः इस प्रकार के किये गये कर्म से वह बन्धनग्रस्त नहीं होता। यह लोकसम्बन्धी संस्कारों का विलय ही लोकसंहार है।

नियत कर्म की प्रेरणाः-

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसङ्ग्रहः॥[2]

कर्मचोदना (कर्म की प्रेरणा) तीन प्रकार की है- ज्ञान, ज्ञेय तथा ज्ञाता। हे अर्जुन! परिज्ञाता= पूर्णज्ञाता महापुरुषों से, ज्ञानम्= उसको जानने की विधि से और ज्ञेयम्= जानने योग्य वस्तु (श्रीकृष्ण ने पीछे कहा कि मैं ही ज्ञेय अर्थात् जानने योग्य पदार्थ हूँ) से कर्म करने की प्रेरणा मिलती है। पहले तो पूर्णज्ञाता कोई महापुरुष हो, उनके द्वारा उस ज्ञान को जानने की विधि प्राप्त हो, लक्ष्य- ज्ञेय पर दृष्टि हो, तभी कर्म की प्रेरणा मिलती है और कर्ता (मन की लगन), करण (विवेक, वैराग्य, शम, दम इत्यादि) तथा कर्म की जानकारी से कर्म का संग्रह होता है, कर्म इकट्ठा होने लगता है। पीछे कहा गया कि प्राप्ति के पश्चात् उस पुरुष का कर्म किये जाने से कोई प्रयोजन नहीं होता और न छोड़ने से हानि ही होती

1. गीता 18/17
2. वही 18/18

है। फिर भी लोकसंग्रह अर्थात् पीछेवालों के हृदय में कल्याणकारी साधनों के संग्रह के लिये वह कर्म में बरतता है। कर्मसंग्रह तीन प्रकार का है-करण, कर्म (क्रिया) और कर्ता। 18वें श्लोक में कर्मचोदना पारिभाषिक शब्द है। इन्द्रियों द्वारा किसी कर्म को करने से पूर्व मन में उसका निश्चय करना पड़ता है। अत: इस मानसिक क्रिया के रूप में प्राथमिक प्रेरणा को कर्मचोदना कहते हैं। यह स्वभावत: तीन प्रकार की होती है- ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता। उदाहरणस्वरूप एक कुम्हार घड़ा बनाने का निर्णय करता है। कुम्हार ज्ञाता है, घट ज्ञेय है और जिस रीति से बनाना है, वह ज्ञान है तथा कुम्हार के द्वारा घट बनाने का निश्चय मानसिक क्रिया है; जिसे कर्म की प्रेरणा या चोदना कहते हैं। घट बनाने का निश्चय हो जाने पर कुम्हार (कर्ता), चाक, मिट्टी आदि (करण) एकत्रित करता है और घट का निर्माण (कर्म) करता है। कर्मसंग्रह से बाहरी क्रियाओं का बोध होता है- कर्ता, करण और कर्म- ये बाहरी क्रियायें हैं।

ज्ञान, कर्म और कर्ता के भेद हैं -

> **ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः।**
> **प्रोच्यते गुणसङ्ख्याने यथावच्छृणु तान्यपि॥**[1]

गुणसंख्यानशास्त्र अर्थात् कापिल सांख्यशास्त्र के अनुसार ज्ञान, कर्म (क्रिया) और कर्ता, सत्त्व, रजस् और तमस्- इन तीन गुणों के भेदों से तीन प्रकार के बताये गये हैं। उनके प्रकारों को यथावत तुझे बतलाता हूँ, तुम सुनो।

ज्ञान का त्रिविध भेदः- सात्त्विक, राजसिक तथा तामसिक

> **सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।**
> **अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्॥**[2]

अर्जुन! जिस ज्ञान से मनुष्य पृथक्-पृथक् सब भूतों में एक

1. गीता 18/19
2. वही 18/20

अविनाशी परमात्मभाव को विभागरहित एकरस देखता है, उस ज्ञान को तू सात्त्विक जान। ज्ञान प्रत्यक्ष अनुभूति है; जिसके साथ ही गुणों का अन्त होना है। यह ज्ञान की परिपक्व अवस्था है।

जो ज्ञान सम्पूर्ण भूतों में भिन्न प्रकार के अनेक भावों को अलग-अलग करके जानता है कि यह अच्छा है, ये बुरे हैं- उस ज्ञान को तू राजस जान। ऐसी स्थिति है, तो राजसी स्तर पर तुम्हारा ज्ञान है। जो ज्ञान एकमात्र शरीर में ही सम्पूर्णता के सदृश आसक्त है, अपने परिवार को ही संसार समझना ही तामसिक ज्ञान है। तत्त्व के अर्थस्वरूप परमात्मा की जानकारी से अलग करनेवाला तुच्छ ज्ञान ही तामस कहा जाता है। भिन्न-भिन्न ज्ञानों के लक्षण बहुत व्यापक हैं। अपने परिवार (स्त्री, पुरुष और बच्चों) को ही सारा संसार समझना तामस ज्ञान है। इससे ऊँची सीढ़ी चढ़ने पर दृष्टि और व्यापक हो जाती है। सम्पूर्ण गाँव अथवा देश अपना लगने लगता है, तो भी यह बुद्धि बनी रहती है कि भिन्न-भिन्न गाँवों-देशों के लोग भिन्न-भिन्न हैं; यही राजस ज्ञान है। इससे और ऊँचा उठकर प्राणिमात्र में एक ही तत्त्व की अनुभूति होना सात्त्विक ज्ञान है। वेद के अनुसार इस ब्रह्माण्ड में नाना तत्त्व न होकर एक ही तत्त्व है; जो इस बात की अनुभूति कर लेता है, वह मुक्त हो जाता है और जो इस एक तत्त्व में नाना तत्त्वों की कल्पना करता है, वह जन्म-मरण के चक्कर में फँसा रहता है।

कर्म के तीन भेद

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम्।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते।।[1]

जो कर्म शास्त्रविधि से स्वधर्मानुसार नियत किया हुआ है (नियतम्) आसक्तिरहित है तथा फल को न चाहने वाले पुरुष के द्वारा बिना किसी राग-द्वेष के किया गया है; वह (कर्म) सात्त्विक कहा जाता है।

---

1. गीता 18/23

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहङ्कारेण वा पुनः।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम्।।[1]

परन्तु कामना के वशीभूत (फलाशा में आसक्त) होकर अहंकार-युक्त पुरुष के द्वारा (मैं यह कर्म कर रहा हूँ इस भावना के साथ) बड़े परिश्रम से जो कर्म किया जाता है, वह राजस कर्म कहा जाता है (राजस कर्म का कर्ता अत्यधिक तनाव व दबाव में रहता है)।

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम्।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते।।[2]

जो कर्म अन्ततः नष्ट होने वाला है, हिंसा- सामर्थ्य को न विचार कर केवल मोहवश आरम्भ किया जाता है, वह कर्म तामस कहा जाता है। स्पष्ट है कि यह कर्म शास्त्र का नियत कर्म नहीं है, उसके स्थान पर भ्रान्ति है।

कर्ता के लक्षणः-

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्विक उच्यते।।[3]

जिसे आसक्ति नहीं रहती, जो मैं और मेरा नहीं कहता (अहंकार रहित है), जो धैर्य और उत्साह से युक्त है, कार्य की सिद्धि हो या न हो- दोनों स्थितियों में निर्विकार (अडिग) रहता है; उसे सात्त्विक कर्ता कहते हैं। विषयासक्त, कर्मफल पाने की इच्छा रखने वाला, लोभी, हिंसात्मक और अपवित्र कर्म करने वाला, सिद्धि के समय हर्ष से और असिद्धि में शोक से पागल हो जाने वाला कर्ता राजस कहलाता है। अयुक्त अर्थात् असावधान = अस्थिर धैर्य और उत्साह से रहित (चंचल बुद्धि वाला, Unbalanced), शिक्षा से रहित (प्राकृत), स्तब्ध = ऐंठ अकड़ वाला (अनम्र), शठ = धूर्त, नैष्कृतिक प्रतिशोध लेने की भावना

---

1. गीता 18/24
2. वही 18/25
3. वही 18/26-28

रखने वाला, निष्कृति (मन, वाणी और शरीर से दूसरे का तिरस्कार करना), उसमें तत्पर नैष्कृतिक अर्थात् दूसरों का अपमान करने वाला अथवा उपकारी का भी अपकार करने वाला। आलसी, अप्रसन्नचित्त (विषादी), दीर्घसूत्री अर्थात् देरी करने वाला (घड़ी भर के काम में महीना लगा देने वाला) कर्ता तामस कहलाता है। 26वाँ, 27वाँ व 28वाँ श्लोक कर्ता को लेकर कहे गये हैं। कर्ता जैसा होता है, वैसे ही कर्म होते हैं। कर्मफल की आशा त्यागकर, सिद्धि और असिद्धि- दोनों में दृढ़ रहकर उत्साहपूर्वक कर्म करना सच्चे कर्मयोगी की विशेषता है।

मोक्ष- मुक्ति के 4 प्रकार :

1. **सालोक्य**- इससे भगवद्धाम की प्राप्ति होती है। वहाँ सुख-दु:ख से अतीत, अनंत काल के लिए है, अनंत असीम आनंद है।

2. **सामीप्य**- इसमें भक्त भगवान् के समीप उनके ही लोक में रहता है।

3. **सारूप्य**- इसमें भक्त का रूप भगवान् के समान हो जाता है और वह भगवान् के तीन चिह्न- श्रीवत्स, भृगु-लता और कौस्तुभ मणि, को छोड़कर शेष चिह्न शंख, चक्र, गदा और पद्म आदि से युक्त हो जाता है।

4. **सायुज्य**- इसका अर्थ है- एकत्व। इसमें भक्त भगवान् से अभिन्न हो जाता है। यह ज्ञानियों को तथा भगवान् द्वारा मारे जाने वाले असुरों को प्राप्त होती है। सृष्टि भी मोक्ष का ही एक अन्य रूप है; जिसमें भक्त को परमधाम में ईश्वर के समान ऐश्वर्य प्राप्त हो जाता हैं। सम्पूर्ण ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य, ये सभी भक्तों को प्राप्त हो जाते हैं। केवल संसार की उत्पत्ति व संहार करना भगवान् के आधीन रहता है; जिसे भक्त नहीं कर सकता। भगवान् ने सारी प्रक्रिया का विश्लेषण करके अर्जुन को कर्म करने के लिए प्रेरित किया। इसके बाद भगवान् ने कर्म, ज्ञान, कर्ता, बुद्धि, धीरता, सुख आदि के तीन-तीन भेद बताये

और व्याख्या की। स्वधर्म की बात करते हैं और फिर भक्ति और कर्म के साथ सांख्य योग की चर्चा करते हैं। अंत में मोक्ष की बात करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण कहते है :

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे।।[1]

अर्जुन मुझ में ही अपना अटूट चित्त लगा, मेरा भजन कर, मेरा पूजन कर। तू मेरा प्रिय है, मैं तुझे विश्वास दिलाता हूँ कि तू मुझे प्राप्त कर लेगा अर्थात् तू मोक्ष प्राप्त कर लेगा।

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहम् त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।।[2]

तू उन सब उलझनों, शंकाओं आदि को छोड़कर मेरी शरण में आ जा। उस स्थिति में यदि तुझे कोई पाप आदि का भय लगता है, तो उसका उत्तरदायित्व मैं लेता हूँ। हे राजन्! भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुन के इस अद्भुत और पुण्यमय संवाद को बार बार याद करने से मैं हर्षित हो रहा हूँ। अंत में संजय कहते हैं–

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रूवा नीतिर्मतिर्मम।।[3]

जहाँ अर्थात् जिस पक्ष की ओर योगेश्वर श्रीकृष्ण हैं; जहाँ धनुर्धारी अर्जुन हैं, वहीं लक्ष्मी हैं, वहीं विजयश्री है, वहीं वैभव और नीति है। अतः पाण्डवों की विजय निश्चित है। यह मेरा दृढ़ मत है।

---

1. गीता 18/65
2. वही 18/66
3. वही 18/78

चतुर्थ अध्याय

महर्षि पतंजलि के अनुसार योग की परिभाषा

योग को परिभाषित करते हुए महर्षि पतंजलि जी कहते हैं : **योगश्चित्तवृत्ति निरोध:**[1] अर्थात् योग चित्त-वृत्तियों का निरुद्ध होना है। अभिप्राय यह है कि योग उस अवस्था विशेष का नाम है; जिसमें चित्त में चल रही सभी वृत्तियाँ रुक जाती हैं। यदि हम और अधिक जानने का प्रयास करें, तो व्यास-भाष्य में हमें स्पष्ट रूप से ज्ञात होता है कि योग समाधि है। इस प्रकार जब चित्त की सम्पूर्ण वृत्तियाँ विभिन्न अभ्यासों के माध्यम से रोक दी जाती है, तो वह अवस्था समाधि या योग कहलाती है। यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि युज् धातु के कौन से अर्थ का प्रयोग किया गया है। कारण कि युज् धातु तीन अर्थों में प्रयुक्त होती है। यहाँ युज् धातु समाधि अर्थ में प्रयोग हो रही है। अत: योग की परिभाषा के लिए यहाँ **युज् समाधौ** वाला प्रयोग ठीक है। हमारा चित्त तरह-तरह की वस्तुओं, दृश्यों, स्मृतियों, कल्पनाओं आदि में हमेशा उलझा रहता है। इन दृश्यों, स्मृतियों, कल्पनाओं, वस्तुओं आदि को वृत्ति भी कहा जा सकता है। अत: सूत्र में योग, चित्त की सम्पूर्ण वृत्तियों का निरोध है या चित्त का पूर्णत: शान्त हो जाना है; जो समाधि की अवस्था भी कहलाती है।

चित्त का स्वरूप

चित्त-वृत्तियों का निरोध ही योग है। इस परिभाषा के सामने आते ही प्रत्येक विद्यार्थी की पहली जिज्ञासा होती है। चित्त क्या है? तथा इस

---

1. पातंजल योगसूत्र 1/2

चित्त के क्या कार्य हैं? यदि सामान्य भाषा में कहें तो मानव के द्वारा सम्पादित की जाने वाली सभी क्रियाओं का कारण यह चित्त ही है। यह चित्त ही शरीर के अन्तर्गत आने वाली इन्द्रियों को विभिन्न क्रियाओं को करने का निर्देश देता है। आशय है कि मनुष्य द्वारा आँखों से देखना, कानों से सुनना हाथ व पैरों को हिलाना आदि सभी क्रियाएँ चित्त के निर्देशानुसार ही होती हैं। यह चित्त ही सभी क्रियाओं की प्रेरणा है। तो क्या चित्त और आत्मा एक ही है; क्योंकि जब तक आत्मा मानव शरीर में रहती है तब तक शारीरिक क्रियाएँ संचालित होती हैं। किन्तु जब आत्मा निकल जाती है, तो शारीरिक क्रियायें भी बंद हो जाती हैं। वास्तव में चित्त और आत्मा को अलग-अलग करके जानना कठिन ही नहीं, अपितु असम्भव कार्य है; क्योंकि इन दोनों में से एक के अनुपस्थित होने पर दूसरे को जाना नहीं जा सकता। जहाँ आत्मा शरीर में चेतना का कारण है, वहीं चित्त इस चेतन शरीर द्वारा कि जाने वाली क्रियाओं का कारण है। व्यवहारिक रूप से मानव में जो मैं का भाव है। अर्थात् मैं खाता हूँ, मैं जाता हूँ, मैं करता हूँ आदि चित्त के ही कारण है। अब प्रश्न उठता है कि यह चित्त आता कहाँ से है? सृष्टि-उत्पत्ति के क्रम में जब प्रकृति के त्रिगुणों सत्त्व, रजस् और तमस् में वैषम्य उत्पन्न होता है। तब सत्त्व गुण के बढ़ने तथा रजस् और तमस् के घटने पर जो स्थिति उत्पन्न होती है, वही चित्त की उत्पत्ति की अवस्था है। उसे सत्त्वप्रधान कहा जाता है।

चित्त की भूमियाँ

योगसाधक जब साधारण मनुष्य की अवस्था से योगी पुरुष की अवस्था तक पहुँचता है, तो इस मार्ग में उसका चित्त विभिन्न स्तरों को प्राप्त करता हुआ आगे बढ़ता है। चित्त की प्रत्येक अवस्था में उसके मनोभाव व सामान्य क्रियाकलापों में परिवर्तन होता रहता है। योगदर्शन में चित्त की पाँच अवस्थाओं का ही वर्णन किया गया है। योगदर्शन की भाषा में चित्त की इन पाँच अवस्थाओं को चित्त की पाँच भूमियाँ कहते हैं; जो कि निम्न हैं : क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त, एकाग्र, निरुद्ध। 'भूमि' शब्द

का प्रयोग यहाँ पर स्तर के रूप में ही प्रयोग किया गया है; अर्थात् चित्त जिस स्तर पर रहता है। उसे ही यहाँ चित्त की भूमि कहा गया है। चित्त की भूमियों की विशेषता यह है कि प्रत्येक चित्त की भूमि में त्रिगुणों सत्त्व, रजस् और तमस् में से एक की प्रधानता होती है चित्त उस गुण की प्रधानता के अनुरूप ही क्रिया करता है।

क्षिप्त भूमि- चित्त की इस भूमि में चित्त रजोगुण प्रधान होता है। तथा तमोगुण और सत्त्वगुण दबे हुए रहते हैं। चित्त की इस अवस्था में मनुष्य पाँच ज्ञानेन्द्रियों और पाँच कर्मेन्द्रियों द्वारा निरन्तर विषय भोग में लिप्त रहता है। इस अवस्था में मन और इन्द्रियों पर नियन्त्रण नहीं रहता और वह चंचल होकर निरन्तर विषयों के पीछे भागती रहती हैं। इस अवस्था में मनुष्य को कृत और अकृत कर्त्तव्यों का भी बोध नहीं रहता। सामान्य भाषा में कहें, तो उसे भले बुरे का भी ध्यान नहीं रहता। वह मात्र इन्द्रिय सुख के लिए कार्य करता रहता है। वर्तमान में अधिकांश मनुष्यों का चित्त इसी अवस्था में स्थिर रहता है।

मूढ भूमि- चित्त की यह अवस्था तमोगुण प्रधान होती है। सत्त्वगुण व रजोगुण दबे हुए रहते हैं। इस अवस्था के चित्त वाले मनुष्यों के स्वभाव में काम, लोभ और मोह की प्रवृत्ति अत्यधिक होती है। काम, लोभ और मोह से ग्रस्त इस चित्त के मनुष्य को कर्तव्य-अकर्तव्य का ज्ञान नहीं रहता। तथा वह शास्त्रविरुद्ध कर्मों का आचरण करते हुए अज्ञान और अधर्म के मार्ग पर अग्रसर रहता है। वह निरन्तर निद्रा, आलस्य और प्रमाद आदि वृत्तियों से घिरा हुआ पशुओं के समान पेट भरने और सोने तक ही सीमित रहता है। मूढ चित्त वाले मनुष्य राक्षस और पिशाच प्रवृति के होते हैं। ये मादक पदार्थो जैसे शराब, अफीम आदि का सेवन कर अकर्मण्यता का जीवनयापन करते हैं।

विक्षिप्त भूमि- चित्त की यह भूमि क्षिप्त और मूढ़ अवस्था से कुछ बेहतर है। इस चित्तावस्था में सत्त्वगुण का आधिक्य होता है। किन्तु यह सत्त्वगुण में रजोगुण की प्रबलता के कारण चित्त विषयों कि अधिकता स्थाई नहीं रह पाती और बीच-बीच दूसरी ओर आकर्षित होने

लगता है। जब तक सत्त्वगुण की प्रधानता रहती है, तब तक मनुष्य की प्रवृत्ति धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य में होती हैं। किन्तु जैसे ही चित्त पर रजोगुण का प्रभाव बढ़ता है। वैसे ही मनुष्य की प्रवृत्ति विषयों की ओर होने लगती है। चित्त की इस अवस्था में सत्त्व की प्रधानता कई बार व्यक्ति के साथ हुई किसी अप्रिय घटना जैसे किसी प्रियजन की मृत्यु के समय भी हो जाती है। उस समय उस व्यक्ति का मन सांसारिक मोहमाया से विरक्त हो जाता है। और कुछ समय के लिए वह ईश्वरभक्ति या फिर अन्य आध्यात्मिक कर्मों में अपने समय को लगाता है। किन्तु जैसे ही उसके सम्मुख सांसारिक माया का कोई प्रबल विषय आता है, तो उसका चित्त सत्त्वगुण को त्याग कर रजोगुण को धारण कर लेता है। और पुनः विषय भोग में लिप्त हो जाता है। उसके जीवन में ऐसे परिवर्तन सहसा ही कई बार होते हैं।

एकाग्र भूमि– चित्त की इस भूमि में सत्त्वगुण प्रधान होता है। और रजोगुण और तमोगुण दबे रहते हैं। इस अवस्था में चित्त की सात्त्विक वृत्ति किसी एक विषय की ओर लगी रहती है। इस सात्त्विक वृत्ति का प्रवाह जब निरन्तर बना रहता है, तब उसको एकाग्रता कहते हैं। विद्वान् इसे चित्त की स्वाभाविक अवस्था कहते है। इस अवस्था में चित्त पर से रजस् और तमस् का आवरण पूर्ण रूप से हट जाता है; जिससे चित्त स्फटिक के समान स्वच्छ और निर्मल हो जाता है। चित्त की एकाग्र भूमि में चित्त एक ही सात्त्विक विषय पर एकाग्र रहता है। चित्त उस सात्त्विक विषय से सम्बन्ध रखने वाली सभी घटनाओं के विषय पर विचार करता है। और अंत में उसी सात्त्विक विषय में लीन हो जाता है। यह वैसे ही जैसे आप यदि सागर के तट पर खड़े होकर सागर की विशालता को निहारते हैं, तो आप सागर की उस विशालता में खो जाते हैं। और जब आप नीले अनन्त आकाश को निहारते हैं, तब आप उसके अनन्त विस्तार में खो जाते हैं। चित्त की इस एकाग्र अवस्था में योग साधक किसी सात्त्विक विचार में खो जाता है। पूर्व की तीनों चित्त भूमियाँ क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त योग की श्रेणी की नहीं थी। किन्तु

एकाग्र भूमि योगस्थ जीवन का प्रारम्भ है। यहाँ से वास्तविक योग का आरम्भ होता है।

निरुद्ध भूमिः- चित्त की इस भूमि में तमोगुण और रजोगुण के साथ साथ सत्त्वगुण-सम्बन्धी वृत्तियों का भी निरोध हो चुका होता है। चित्त में मात्र पूर्व में किये गये कर्मों के संस्कार शेष रहते हैं। चित्त की यह अवस्था निरुद्ध भूमि कहलाती है। इस अवस्था में चित्त अपनी स्वाभाविक शान्त अवस्था में रहता है। ऐसा चित्त केवल सिद्ध योगियों का ही होता है। इन योगियों की आहार-विहार आदि क्रियाओं को समझ पाना भी कठिन होता है। उनका जीवन प्रारब्ध को भोगने मात्र के लिए शेष होता है। जैसे- आदि शंकराचार्य, महर्षि दयानन्द, रामकृष्ण परमहंस, महर्षि रमण, स्वामी शिवानंद आदि कई योगी पुरुष इस श्रेणी के हैं। ऐसे ज्ञानयोग के साधक का चित्त आत्मसाक्षात्कार के पश्चात् अपने स्रोत मूल प्रवृति में लीन हो चुका होता है। चित्त की इस भूमि में होने वाली समाधि को **असम्प्रज्ञात समाधि** कहते हैं।

चित्त की वृत्तियाँ

योगदर्शन में अंतःकरण चतुष्टय (मन, बुद्धि, अहंकार व चित्त) और दस बाह्य करण (पंच ज्ञानेन्द्रियाँ, पंच कर्मेन्द्रियाँ) को विषयों के ज्ञान हेतु और प्रतिक्रिया करने का साधन माना गया हैं। इन अंतःकरण और बाह्य करणों के द्वारा विषयों के प्रति जो ज्ञानात्मक परिणाम हैं, वहीं वृत्ति हैं। अर्थात् बुद्धि द्वारा निश्चय करना, अहंकार द्वारा अभिमान करना, मन द्वारा संकल्प-विकल्प और चित्त द्वारा संस्कार संग्रह तथा कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों द्वारा विषय ग्रहणकर क्रिया करना आदि सभी को वृत्ति कहा जा सकता है। किन्तु यदि हम मात्र चित्त की वृत्ति की बात करें, तो जब चित्त इन्द्रियों के माध्यम से विषय के सम्पर्क में आता है; तब यह चित्त उस विषय का ही आकार ग्रहण कर लेता है। चित्त के द्वारा विषय के आकार को ग्रहण करने की यह घटना ही चित्त की वृत्ति कहलाती है। चित्त में उत्पन्न होने वाली इन अनित्य वृत्तियों का क्रमप्रवाह निरन्तर चलता रहता है। ये वृत्तियाँ ही चित्त में संस्कारों का संग्रह करती

है और संगृहीत संस्कार ही पुनः वृत्तियों का रूप ले लेते हैं। इस प्रकार यह चक्र अनवरत चलता रहता है। ये चित्तवृत्तियाँ जिस प्रकार की होती हैं; मानव की भावनायें, अभिव्यक्ति, दृष्टिकोण आदि शारीरिक और मानसिक क्रियायें भी उसी प्रकार की हो जाती हैं।

चित्त की पाँच वृत्तियाँ

चित्त की पाँच वृत्तियों (प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा, स्मृति) के द्वारा ही व्यक्ति जीवनपर्यन्त सुख-दुःख का अनुभव करता है। वृत्तियों द्वारा जीवन में जब सुख की अनुभूति होती है, तब हम उसे वृत्तियों का सकारात्मक तथा जब दुःख की अनुभूति होती है तब उसे हम वृत्तियों का नकारात्मक पहलू कहते हैं। योगसूत्र में महर्षि पतंजलि ने वृत्तियों के इन दोनों पहलुओं को क्लिष्ट और अक्लिष्ट अर्थात् दुःखदायी और सुखदायी बताया है। चित्त की वृत्तियों के उस स्वरूप की जो मानव को भोग की और प्रवृत्त करता है, उसे क्लिष्ट अर्थात् क्लेश-कारक कहा गया है वृत्तियों के उस स्वरूप को, जो मानव को योग की ओर ले जाता है; उन्हें अक्लिष्ट अर्थात् क्लेशरहित कहा गया है। सत्त्व-प्रधान वृत्तियाँ अक्लिष्ट और तमःप्रधान वृत्तियाँ क्लिष्ट हैं। चित्त का वृत्तिशून्य होना ही योग है।

प्रमाण- चित्तवृत्तियों में सर्वप्रथम प्रमाण पर चर्चा करेंगे। यही चित्तवृत्तियों में प्रथम वृत्ति है। इसका सम्बन्ध तथ्यों, परिस्थितियों और घटनाओं के अनुभव और सजगता पर आधारित ज्ञान से है। या इस प्रकार कहें कि जिसके द्वारा प्रमा अर्थात् ज्ञान की उत्पत्ति होती है, उसे प्रमाण कहते हैं। प्रमाण के द्वारा ही इन्द्रियाँ विषयों को ग्रहणकर बुद्धि को उनका ज्ञान कराती हैं। प्रमाण की परिभाषा के अनुसार जो कारण दोषों से रहित हो, अन्य ज्ञान से बाधित न हो, पूर्व से अज्ञात पदार्थ का ज्ञान कराता है; उसे प्रमाण कहते हैं।

प्रत्यक्ष प्रमाण- जब इन्द्रियों का उनके विषय से सीधा संयोग होता है, वह उत्पन्न ज्ञान प्रत्यक्ष कहलाता है। जैसे-आँख के द्वारा देखना, कान के द्वारा सुनना, जिह्वा के द्वारा स्वाद ग्रहण करना, नाक के द्वारा

सूँघना तथा त्वचा के द्वारा स्पर्श करना। एक अन्य परिभाषा द्वारा इसे समझते हैं जब किसी व्यक्ति को इन्द्रियों के माध्यम से वस्तु का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, तब बुद्धि विषय के आकार को धारण कर लेती है। यही प्रक्रिया प्रत्यक्ष प्रमाण कहलाती है। इस प्रक्रिया में इन्द्रियाँ महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। किन्तु वह मात्र सहायक के रूप में होती हैं। मुख्य कार्य तो बुद्धि का है।

अनुमान प्रमाण– सामान्यतः अनुमान प्रमाण से तात्पर्य किसी तथ्य के पीछे निहित कारक के अनुमान से है। जैसे यदि कुछ दूरी पर हमें धुआँ उठता दिखाई दे रहा है, तो हम निश्चित ही यह अनुमान लगाते हैं कि वहाँ धुआँ है। अतः वहाँ आग लगी है। इसी प्रकार किसी परिणाम को देखकर हम जब किसी का विश्लेषण करते हैं और उसके कारण के सम्बन्ध में एक निष्कर्ष निकालते हैं, तो इसे ही अनुमान प्रमाण कहते हैं।

आगम प्रमाण– आगम प्रमाण के विषय में महर्षि व्यास कहते हैं कि तत्त्वज्ञान करुणा और ज्ञानेन्द्रियों से पूर्ण व्यक्ति आप्त कहा जाता है। जब वह आप्त व्यक्ति अनुभव किये गये ज्ञान को अन्य लोगों तक शब्दमय वाक्यों के द्वारा पहुँचाता है, तो उन शब्दों को सुनने से चित्त में जिस वृत्ति का उदय होता है; उसे आगम प्रमाण कहते हैं। इस कथन को यदि सरलता से कहें, तो जो वस्तु जैसी है; उसे वैसी ही बताने वाला व्यक्ति आप्त कहलाता है तथा उस आप्त व्यक्ति द्वारा कहे गये वाक्यों से उत्पन्न होने वाले ज्ञान को ही आगम प्रमाण कहते हैं।

विपर्यय वृत्ति– विपर्यय का तात्पर्य मिथ्याज्ञान से है। मिथ्याज्ञान अर्थात् गलत ज्ञान या किसी विषय का गलत परिचय। वेदान्त दर्शन में विपर्यय का एक सबसे उत्तम उदाहरण है– रस्सी को सर्प समझ लेना। उदाहरण कुछ इस प्रकार है : यदि अन्धेरे कमरे में किसी कोने में कोई रस्सी का टुकडा पड़ा हो, तो हम उससे अचानक भयभीत हो जाते हैं; क्योंकि हम उसे सर्प समझ लेते हैं किन्तु जैसे ही प्रकाश फैलता है, और कमरा प्रकाश से भर जाता है, तब हमें दिखाई देता है कि जिसे

हम सर्प समझ रहे थे, वह तो मात्र एक रस्सी का टुकड़ा है। प्रायः हम सभी लोग विपर्यय के शिकार होते हैं। समाज में फैलने वाली झूठी अफवाह विपर्यय का सबसे बड़ा उदाहरण है। विपर्यय वृत्ति हमारी सजगता को भ्रमित कर देती है; जिसके कारण हम सही गलत का बोध नहीं कर पाते। ऐसा कई बार तक होता है। इस विपर्यय चित्त वृत्ति को संसार की बीजभूत अविद्या भी कहा गया हैं। इस विपर्यय द्वारा अविद्या के अन्तर्गत पंचक्लेश (अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष व अभिनिवेश) आते हैं। सांख्य दर्शन के ये विपर्यय के पाँच भेद और योगसूत्र के पंचक्लेश एक-जैसे ही हैं। अंतर बस इतना है कि सांख्य में इन्हें विपर्यय कहा गया है और योगसूत्र में क्लेश। अब विपर्यय के पाँच भेदों को समझते हैं।

विपर्ययः- तमस् (अविद्या), मोह (अस्मिता), महामोह (राग), तामिस्त्र (द्वेष), अन्धतामिस्त्र (अभिनिवेश)

(क) तमस- आत्मा से भिन्न प्रवृत्ति, बुद्धि, अहंकार आदि को ही आत्मा मान लेना विपर्यय का पहला भेद तमस् है। इसे ही योग दर्शन ने अविद्या कहा गया है। उसके अनुसार अनित्य अशुचि, दु:ख तथा अनात्मा को क्रमशः नित्य, शुचि सुख और आत्मा मान लेना ही अविद्या है।

(ख) मोह- देवता ऐश्वर्यो को प्राप्त करके अपने अमरत्व का अभिमान करते हैं और इन्हें ही नित्य मानने लगते हैं। इसे ही सांख्य में विपर्यय का द्वितीय भेद मोह कहा है। वहीं योगदर्शन के अनुसार सुखी, दु:खी, कर्त्ता और भोक्ता है। इस प्रकार का अज्ञान अस्मिता कहलाता है।

(ग) महामोह- सांख्य के अनुसार विषय सुखों को बार-बार प्राप्त करने की इच्छा ही महामोह नामक तीसरा विपर्यय है। योगदर्शन ने इसे राग कहा है। उसके अनुसार सांसारिक विषयों के सुख का भोग करने के पश्चात् उन्हें पुनः भोगने की इच्छा ही राग है।

(घ) तामिस्त्र- दु:ख का अनुभव करने वाला व्यक्ति दु:ख के प्रति

अथवा उस दु:ख को देने वाले के प्रति जो क्रोध का भाव रखता है, उसे ही सांख्यदर्शन तामिस्र कहता है। योगदर्शन इसे ही द्वेष कहता है।

(ड) **अन्धतामिस्त्र**- व्यक्ति का जन्म होता है और मृत्यु होती है; जिसका अनुभव व्यक्ति के चित्त में संस्कार के रूप में संग्रहित हो जाता हैं; जिससे वह मृत्यु के नाम को सुन कर ही घबराता है और जीवनभर इस मृत्यु के भय से त्रस्त रहता है। मृत्यु के कारण होने वाले इस त्रास अर्थात् पीड़ा को ही सांख्य दर्शन अन्धतामिस्र कहता है तथा योगदर्शन इस मृत्यु के भय को ही अभिनिवेश कहता है। इस प्रकार आपने विपर्यय को समझा। विपर्यय हमारे जीवन की असफलताओं के लिए जिम्मेदार अकेला सबसे बड़ा कारण है।

अत: जब यह विपर्यय ज्ञान मनुष्य को पतन की ओर ले जाये, तब इसे क्लिष्ट समझना चाहिए। जैसा की अब तक के विपर्यय के वर्णन से ज्ञात होता है। किन्तु जब यह विपर्यय मनुष्य की उन्नति का साधन बनता है; तब इसे अक्लिष्ट समझना चाहिए।

विकल्प वृत्ति- शब्दज्ञान से उत्पन्न होने वाला सत्य वस्तु में शून्य ज्ञान विकल्प है। कल्प का तात्पर्य निराधार विश्वास या कल्पना से है। वास्तव में विकल्प किसी भी ऐसे प्रकार के पदार्थ का ज्ञान है; जो कि वर्तमान में उपस्थित नहीं है। अर्थात् उस पदार्थ के अनुपस्थित होने पर भी उसके होने का अभास या ज्ञान होना विकल्प कहलाता है। इसे ही हम सामान्य भाषा में कल्पना कह देते हैं। इस कल्पना का सम्बन्ध हमारे मन-मस्तिष्क में उत्पन्न होने वाले विचारों के ऐसे आयाम से है जो स्वत: निर्मित होते हैं, कई बार हमने अनुभव किया है कि यह व्यर्थ की कल्पनायें तब ज्यादा उत्पन्न होती हैं जब हम खाली समय बस बैठे होते हैं, हमारे पास करने को कोई कार्य नहीं होता। जैसे कहावत है- खाली दिमाग शैतान का घर। इस प्रकार हमारे मन में खाली समय पर व्यर्थ के विचार व कल्पनायें उत्पन्न होती रहती हैं। यह कल्पनायें

हमारे चित्तरूपी शरीर में पहले छोटी-छोटी तरंगों के रूप में उत्पन्न होती है, किन्तु देखते ही देखते यह विशाल लहरों का रूप ले लेती हैं। यह भयंकर कल्पनाशक्ति माया को उत्पन्न करती हैं। और जीवन को अस्त-व्यस्त कर देती है।

निद्रा वृत्ति- निद्रा वृत्ति ज्ञान के अभाव को कहते हैं। इसी का अन्य नाम सुषुप्ति भी है। योग-सूत्र-भाष्यकार व्यास के अनुसार यह त्रिगुणात्मक होती है। अतः यह सुखस्वरूप, दु:खस्वरूप और मोह-स्वरूप होती है।

सात्त्विक, राजसिक, तामसिक निद्रा- सात्त्विक निद्रा के पश्चात् मनुष्य को बोध होता है कि मैं सुखपूर्वक सोया और मेरा मन प्रसन्न रहा। वहीं राजसिक निद्रा से जागे मनुष्य को ज्ञान होता है कि मैं दु:खपूर्वक सोया और मेरा मन अकर्मण्यता के बोझ से बोझिल रहा तथा तामसिक निद्रा से जागे मनुष्य को बोध होता है कि मैं गहरी निद्रा में सोया पर मेरा मन भारी-भारी लग रहा है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि निद्रा में भी त्रिगुणात्मक वृत्तियाँ उत्पन्न होती है। जो संस्कारों को पैदा करती हैं। अतः इनका निरोध होना चाहिए। इसी कारण से निद्रा को वृत्ति का रूप दिया गया है। पहले की तीनों वृत्तियाँ प्रमाण, विपर्यय और विकल्प बहिर्मुखी वृत्तियाँ थी किन्तु निद्रा अन्तर्मुखी वृत्ति है। निद्रा की अवस्था में बाह्य जगत् का बोध नहीं रहता अर्थात् बाह्य जगत् में क्या हो रहा है इससे निद्रा की अवस्था में पड़े मनुष्य को कोई फर्क नहीं पड़ता। मन का शरीर और बाह्य वातावरण से सम्पर्क लगभग समाप्त सा हो जाता है।

स्मृति वृत्ति- यह वृत्ति पूर्व की चारों वृत्तियों प्रमाण, विपर्यय, विकल्प और निद्रा पर आधारित होती हैं। पूर्व की चारों वृत्तियाँ किसी न किसी प्रकार के ज्ञान पर आधारित हैं; जिनका चित्त में संस्कार रूप में संग्रह हो जाता है। जब यह संस्कार विषय रूप में हमारे सामने आते हैं तब इन्हें स्मृति कहा जाता है। या इस प्रकार कहें कि अनुभूत अर्थात् अनुभव किये गये विषय का संस्कार-प्रणाली के माध्यम से वर्तमान में

पुनः प्रकट होना स्मृति है। जब किसी विषय, पदार्थ या कार्य का अनुभव नष्ट हो, तो वह संस्कार रूप में अपनी छाया को चित्त में छोड़ देता है और समय आने पर वह छाया पुनः विषय का रूप धारण कर स्मरणात्मक ज्ञान के रूप में हमारे सामने प्रकट हो जाती है। स्मृति वृत्ति अपने जनक अनुभव के द्वारा अर्जित सम्पत्ति का ही उपयोग करती है। जिस प्रकार एक पुत्र अपने पिता की छोड़ी हुई सम्पत्ति का उपयोग पूरे अधिकार के साथ कर सकता है इसी प्रकार स्मृति अपने पिता अनुभव द्वारा सम्पत्ति में प्राप्त ज्ञान को भविष्य में आवश्यकता पड़ने पर उपयोग कर सकती है। किन्तु उसके द्वारा जो ज्ञान भविष्य में उपयोग किया जायेगा, वह उस अनुभव से कम या उसके बराबर ही होगा। वह उस अनुभव ज्ञान से कभी भी अधिक नहीं हो सकता। स्मृति वृत्ति पूर्व की चारों वृत्तियों पर आधारित होती है। अतः हम कह सकते हैं कि स्मृतियाँ सभी प्रकार के अनुभवों से उत्पन्न होती हैं; जैसे प्रमाणरूप अनुभव, विपर्ययरूप अनुभव, विकल्परूप अनुभव तथा निद्रारूप अनुभव। स्मृति मुख्य रूप से दो प्रकार की होती है- भावित स्मृति तथा अभावित स्मृति।

(क) भावित स्मृति- जिस स्मृति का विषय कल्पित या अयथार्थ होता है; उसे भावित स्मृति कहते हैं। भावित् स्मृति मुख्यतः स्वप्नावस्था में उत्पन्न होती है। जैसे यदि आज हम कहते हैं कि कहीं घूमने गये, जहाँ पुराने किले और महल थे, यह एक ऐतिहासिक स्थल था। अब यदि हम घूमकर आने के बाद विश्राम करते हैं और हमें नींद आ जाती है। नींद में हम पुनः उन्हीं किले और महलों को देखते हैं। किन्तु अब स्वप्नावस्था में वे महल व किले हमें वैसे ही नहीं दिखाई देते, जैसे की हमने देखे थे। अब वह हमें कुछ या बहुत कुछ अलग दिखाई देते हैं। स्मृति के इस रूप को ही भावित स्मृति कहा गया है। इस स्मृति में अनुभव की गयी घटना के घटनाक्रम में विसंगति होती है।

(ख) अभावित स्मृति- जिस स्मृति का विषय यथार्थ व अकल्पित हो, वह अभावित स्मृति कहलाती है। यह स्मृति जाग्रत् अवस्था में कार्य करती है। जैसे यदि हम भावित स्मृति के उदाहरण के

पहले हिस्से को लें जहाँ तक हम ऐतिहासिक स्थल को घूमकर आये थे। उसके बाद यदि लौटकर हम घर आकर अपने मित्रों या भाई बहनों को उस ऐतिहासिक स्थल के बारे में बताते है, तो हमारी स्मृति के द्वारा बताया गया सारा विवरण सही होगा; उसमें कुछ भी कल्पित नहीं होगा और उसके घटनाक्रम में भी कोई विसंगति नहीं होगी। इस स्मृति को ही अभावित स्मृति कहा गया है।

चित्तवृत्ति-निरोध के उपाय

योग साधकों को दर्शन परम्परानुसार तीन श्रेणियों में बांटा गया है प्रथम उत्तम श्रेणी के साधक द्वितीय मध्यम श्रेणी तथा तृतीय अधम श्रेणी के साधक हैं। प्रथम कोटि के साधक वे होते हैं जो पूर्व जन्म में ही योग मार्ग पर बहुत आगे बढ़ चुके होते हैं तथा वर्तमान जीवन में पूर्व में छोड़ी गई योग साधना को परम लक्ष्यसमाधि या कैवल्य तक पहुंचने के लिए प्रयासरत रहते हैं। जैसे रामकृष्ण परमहंस, महर्षि दयानन्द सरस्वती, स्वामी विवेकानन्द आदि योगी इस श्रेणी के उत्तम योगी हुए हैं। उत्तम श्रेणी के योग साधक अभ्यास एवं वैराग्य द्वारा ही चित्त की वृत्तियों का निरोध करते हैं। ऐसे योगीजन केवल मात्र पूर्व जन्म के कर्मों के द्वारा संग्रहित संस्कारों को भोगने के लिए इस जीवन का यापन करते हैं इनके संस्कारों के क्षीण होते ही इनको परम लक्ष्य की प्राप्ति अर्थात् असम्प्रज्ञात समाधि, कैवल्य मोक्ष की प्राप्ति होती है।

उत्तम श्रेणी के साधक वे होते हैं जो पूर्व जन्म में योग की उच्च अवस्था को प्राप्त कर चुके थे लेकिन कैवल्य को प्राप्त करने से पूर्व ही किसी कारणवश देहावसान हो गया हो। वे साधक हीउत्तम श्रेणी के साधक कहलाते हैं।

उत्तम श्रेणी के साधकों के चित्त की निर्मलता के लिए अभ्यास और वैराग्य आवश्यक है जिसका वर्णन समाधि पाद के 12वें सूत्र में है: अभ्यास वैराग्याभ्यां तन्निरोध:। इस सूत्र के व्यास भाष्य में महर्षि व्यास ने चित्त को नदी की दो धाराओं के समान कहा है जिसकी एक धारा विषय भोगों का वहन करती है जबकि दूसरी धारा विवेक का वहन

करती है। प्रायः साम्यावस्था में विवेक रूपी धारा क्षीण होती है और विषय रूपी धारा प्रबल होती है परन्तु जब योग साधक अभ्यास और वैराग्य का सहारा लेता है तो वैराग्य द्वारा विषयों का वहन करने वाली धारा को बंद करके अभ्यास द्वारा विवेक को वहन करने वाली धारा को प्रबल किया जाता है अर्थात् अभ्यास और वैराग्य के द्वारा ही चित्त की वृत्तियों का निरोध हो सकता है।

मध्यम श्रेणी के योग साधक वे साधक होते हैं; जो पूर्व जन्म में योग साधना प्रारंभ कर चुके हैं। उनके मन में आत्मबोध की जिज्ञासा तीव्र उत्पन्न होती है; जिसकी प्राप्ति के लिए ये निरन्तर प्रयासरत रहते हैं ऐसे योगियों के लिए क्रिया योग का मार्ग कहा गया है यहां केवल क्रिया योग में ईश्वर प्रणिधान पर चर्चा की है। ईश्वर प्रणिधान द्वारा वे योगी अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सकते हैं।

अधम श्रेणी के साधक वे होते हैं जिनका चित्त संस्कारों के कारण मलिन है किन्तु संस्कार रूपी मल को दूर करने की प्रबल इच्छा है जिससे संस्कार रूपी मल से मुक्त हो सकें। योग शास्त्र ऐसे साधकों के लिए अष्टांगयोग का मार्ग प्रशस्त करता है। इस प्रकार से वृत्तियों का पूर्णनिरोध ही योग का परम लक्ष्य है इस लक्ष्य की प्राप्ति हेतु महर्षि पतंजलि ने इस संसार को निरोध के उपायों का उपदेश दिया है।

अभ्यास-

महर्षि पतंजलि अभ्यास के विषय में कहते हैं कि-तत्र स्थितो यत्नोऽभ्यासः। अर्थात् किसी स्थिति को प्राप्त करने के लिए जो यत्न किया जाता है वही अभ्यास है कहने का आशय यह है कि चित्त का बिना किसी बाधा के एकाग्र बना रहना ही चित्त की स्थिति है और यह बाधारहित एकाग्रता योगांगों के अनुष्ठान से प्राप्त होती है। इस अवस्था में सर्वप्रथम राजस और तामस वृत्तियों का लोप होता है और केवल

---

1. योगसूत्र 1/12
2. वही 1/13

सात्विक वृत्ति ही शेष रहती है जिसे सात्विक एकाग्रता कहते हैं। योगांगों का अभ्यास और अधिक प्रगाढ़ होता है तो सात्विक एकाग्रता भी लुप्त हो जाती है। फलस्वरूप असम्प्रज्ञात समाधि की प्राप्ति योगियों को होती है।

महर्षि पतंजलि कहते हैं अभ्यास दीर्घकाल तक निरंतरता के साथ तथा सत्कारसहित किए जाने परभूमि दृढ़ होती है। दीर्घकाल अर्थात् लंबा समय, यह समय सीमा रहित है यह कई मास, साल व कई जन्मों का भी हो सकता है। किसी भी एक जन्म में किए गए सत्कर्मों के फलस्वरुप हमारा अगला जन्म श्रेष्ठतर होगा जिसमें अभ्यास और प्रगाढ़ होता है अभ्यास में निरन्तर होनी चाहिए अर्थात् लगातार व्यवधान रहित होकर अभ्यास करना चाहिए जिस प्रकार से तेल की धारा बिना टूटे एक धार में गिरती है उसी प्रकार से अभ्यास में निरंतरता होनी परम आवश्यक है।

वैराग्य– वैराग्य शब्द का अर्थ है– विरागस्य भावः अर्थात् राग का विरोधी विराग है और विराग का भाव वैराग्य है। महर्षि पतंजलि वैराग्य के विषय पर कहते हैं। **दृष्टवदानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्**[2] अर्थात् दृष्ट और आनुश्रविक विषयों से चित्त का तृष्णारहित होना वशीकार संज्ञा नामक वैराग्य है। इस वशीकार संज्ञा नामक वैराग्य को ही अपर वैराग्य कहा गया है। यहाँ पर दो शब्द आये हैः दृष्ट और आनुश्रविक। ये विषयों के प्रकार हैं अर्थात् जो विषय देखे हुए हैं, उन्हें दृष्ट और जो विषय सुने हुए हैं, उन्हें आनुश्रविक कहा गया है। यहाँ दृष्ट विषय है– स्त्रियाँ, अन्न, पान और ऐश्वर्य। इन विषयों को ऐहिक भी कहा जाता है। आनुश्रविक विषय है : स्वर्गादि अमृतपान, अप्सरा भोगादि। इन विषयों को पारलौकिक भी कहा जाता है। चूंकि ये विषय मृत्युलोक में दृश्य नहीं है इनका वर्णन मात्र ग्रन्थों में ही मिलता है; अर्थात् ये विषयभोग मात्र सुने गये हैं। इन दृष्ट और आनुश्रुविक

1. योगसूत्र 1/14
2. वही 1/15

विषयों से चित्त का मुक्त होना वशीकार संज्ञा नामक वैराग्य है। समाधि की तरह ही वैराग्य भी दो प्रकार का होता है।

वैराग्य- अपरवैराग्य, परवैराग्य

वैराग्य चित्तवृत्तियों के निरोध का सबसे प्रभावी उपाय है तथा क्रम से होने वाली एक अवस्था है। इस अवस्था को प्राप्त करने में अभ्यास बहुत सहायक होता है। अभ्यास की सहायता से ही वैराग्य की अवस्थाओं को प्राप्त करते करते उच्चतर अवस्था को अर्थात् परवैराग्य को प्राप्त किया जा सकता है। जहाँ अपर वैराग्य के द्वारा राजसिक और तामसिक वृत्तियों का निरोध किया जाता है वहीं परवैराग्य के द्वारा सात्त्विक वृत्ति का भी निरोधकर कैवल्य को प्राप्त किया जाता है। अभ्यास और वैराग्य का आचरण उच्च कोटि के योगसाधकों के लिए बताया गया है। इन उच्च कोटि के साधकों में भी जिन साधकों का अभ्यास और वैराग्य के प्रति संवेग जितना तीव्र होगा, उनका वृत्तिनिरोध भी उतना ही तीव्र होगा और वृत्तिनिरोध जितना तीव्र होगा योग के परम लक्ष्य की प्राप्ति भी उतनी तीव्रता से होगी।

क्रियायोग

मध्यम कोटि के साधकों की चित्तशुद्धि के लिए महर्षि पतंजलि ने क्रियायोग का उपदेश किया तथा अशुद्धियों को दूर करने के लिए निर्देशित करते हुए कहा- **तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः।**[1] अर्थात् तपस्या, स्वाध्याय तथा ईश्वरप्रणिधान क्रियायोग कहलाता है। महर्षि व्यास कहते हैं कि तपस्या विहीन योगी का योग सिद्ध नहीं होता। अनादिकालीन कर्म और क्लेश की वासना आदि का विषययुक्त जाल जो अशुद्धि है, वह तपस्या के बिना छिन्न नहीं हो सकता है। इसलिए योग साधनों में तप का विशेष रूप से उल्लेख किया गया है। चित्त को निर्मल करने वाला यह तप ही योगियों द्वारा ग्रहण करने योग्य है। ओ३म् प्रणवादि पवित्र मन्त्रों का जप तथा वेदादि मोक्षशास्त्रों का अध्ययन

---

1. पा.यो.सू. 2.1

स्वाध्याय है। ईश्वर प्रणिधान ईश्वर को समस्त कर्मों का अर्पण अर्थात् कर्म के फल का त्याग है। यहा एक प्रश्न प्रकट होता है कि क्रियायोग क्यों किया जाये? इस प्रश्न का उत्तर महर्षिपतंजलि कहते है- **समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च।**[1] क्रियायोग का अभ्यास कलेशों को तनु करने के लिए एवं समाधि की स्थिति को प्राप्त करने के लिए किया जाता है। क्लेश-अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश हैं। अविद्या अर्थात् अनित्य को नित्य मानना, अशुचि को शुचि अर्थात् पवित्र मानना, अनात्म को आत्म अर्थात् अपना मानना, दुः ख को सुख समझना है। यह संसार अनित्य, जड़ है, शरीर में गन्दगी भरी हुई है, यह संसार दुःखमय है। हर सुख का अन्त दुःख से परिपूर्ण है, यह इन्द्रिय, शरीर और चित्त जड़ है, अनात्म है। उपर्युक्त सभी की विपरीत भावना कर संसार को नित्य, पवित्र, सुखमय व आत्म समझना ही अविद्या है। अविद्या ही अन्य क्लेशों की जननी है। अस्मिता अर्थात् मैं की भावना अहं की भावना ही अस्मिता क्लेश है। यह शरीर मेरा है, यह वस्तु मेरी है आदि को समझना अस्मिता नामक क्लेश है। यह अत्यंत कष्ट को देने वाला है। सदैव सुखी रहने की इच्छा व दुःख से बचने का भावराग कहलाता है। अभिनिवेश मृत्यु भय है यह विद्वानों और मूर्खों को एक समान होता है। उपर्युक्त सभी क्लेश समाधि से दूर करने वाले हैं। इन सभीवृत्तियों और कलेशों के नाश की अवस्था समाधि की अवस्था है। क्रियायोग से समस्त कलेशों का नाश सम्भव है; जिस के कारण सहज ही समाधि अवस्था प्राप्त कर सकते हैं।

तप-

तप का तात्पर्य शरीर की उस अवस्था से है जो शरीर, इंद्रिय और मन को योग साधना की अवस्था के लिए रूपांतरित कर देता है। व्यक्ति के राग-द्वेषों को जला कर भस्म किया जा सकता है; ताकि उसका असली सारतत्त्व प्रकट हो सके। महर्षि पतंजलि के अनुसार तप

1. पा.यो.सू. 2.2

से अशुद्धियों का क्षय होता है तथा शरीर और इन्द्रियों की शुद्धि होती है। **कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः।**[1] जिस प्रकार अश्व-विद्या में कुशल सारथी चंचल घोड़ों को अपने वश में करता है; उसी प्रकार शरीर, इन्द्रियों, प्राण और मन को उचित रीति और अभ्यास द्वारा वशीकार करने को तप कहते हैं; जिससे सर्दीगर्मी, भूख-प्यास, सुख-दुःख, हर्ष-शोक, मान-अपमान आदि सम्पूर्ण द्वंद्वों की अवस्था का नाश हो जाता है। जिससे शरीरऔर निर्मल अन्तःकरण के साथ मनुष्य योगमार्ग में निरंतर प्रवृत्त रहता है।

तप तीन प्रकार का होता है:- मनसावाचाकर्मणा मन, वचन और कर्म से योगी पुरुष द्वारा निष्काम भाव से श्रद्धा पूर्वक किया गया तप सात्विक होता है। इसके विपरीत जो सत्कार, मान और पूजा के लिए तप किया गया है वह पाखण्ड से किया जाता है; वह अनिश्चित और क्षणिक फलवाला होता है। अपने आश्रम, वर्ण, समय-परिस्थिति और योग्यता के अनुसार अपने धर्म का पालन करना और उसके पालन करने में जो शारीरिक या मानसिक व आध्यात्मिक रूप से जो कष्ट प्राप्त हो उसे सहर्ष सहन करने का नाम तप है। व्रत, उपवासादि भी तप की श्रेणी में ही आते हैं। निष्काम भाव से इस तप का पालन करने से मनुष्य का अन्तःकरण अनायास ही शुद्ध हो जाता है। **तपो द्वन्द्वसहनम्** अर्थात् सब प्रकार के द्वन्द्वों को सहन करना तप है। ये द्वन्द्व शारीरिक, मानसिक और वाचिक किसी भी श्रेणी के हो सकते हैं। तप के न होने पर साधक तो क्या सामान्यजन भी कुछ प्राप्त नहीं कर सकते। तप हर क्षेत्र में परम आवश्यक है। योग साधना में सदी-गर्मी भूख-प्यास, आलस्य, अहंकार, जड़ता आदि द्वन्द्वों को सहन करना और कर्तव्यमार्ग पर आगे बढ़ते रहना ही तप है।

तप के प्रकार- श्रीमद्भगवद्गीता के 17वें अध्याय में तप के तीन भेद बताये हैं : 1. शारीरिक 2. वाचिक 3. मानसिक। इसके पश्चात् इन तीन के भी तीन और भेद किये हैं-1. सात्त्विक, 2. राजसिक और

1. पा.यो.सू. 2.43

3. तामसिक।

स्वाध्याय- वेद, उपनिषद्, पुराण आदि तथा विवेकज्ञान प्रदान करने वाले सांख्य, योग, आध्यात्मिक शास्त्रों का नियमपूर्वक अध्ययन तथा अन्य सभी वे साधन जो कि विवेक ज्ञान में सहायक हैं; जैसे अन्य धर्मग्रन्थ, श्रेष्ठ पुस्तक आदि का अध्ययन, मनन, स्वाध्याय कहलाता है। स्वाध्यायनिष्ठा जब साधक को प्राप्त हो जाती है, तब उसकी इच्छानुसार देवताओं, ऋषियों तथा सिद्धों के दर्शन होते हैं तथा वे उसको कार्य सम्पादन में सहायता प्रदान करते हैं। आचार्य उदयवीर शास्त्री जी के अनुसार इस पद के दो भाग हैं- स्व और अध्ययन। स्व पद के चार अर्थ हैं : आत्मा, आत्मीय अथवा आत्मसम्बन्धी (बन्धु बान्धव) और धन। अध्ययन अथवा अध्याय कहते हैं- चिन्तन, मन अथवा पूर्वोक्त अध्ययन। आत्मविषयक चिन्तन व मनन करना, तत्सम्बन्धी ग्रन्थों का अध्ययन तथा प्रणव आदि का जप करना स्वाध्याय है। द्वितीय अर्थ में आत्मसम्बन्धी विषयों का चिन्तन मनन करना। आत्मा का स्वरूप क्या है? कहाँ से आता है? इत्यादि विवेचन से आत्मविषयक जानकारी के लिये प्रयत्नशील रहना। तृतीय अर्थों में जाति बन्धु-बान्धव आदि की वास्तविकता को समझकर मोहवश उधर आकृष्ट न होते हुये विरक्त की भावना को जाग्रत् रखना स्वाध्याय है। चतुर्थ अर्थ में धन-सम्पत्ति आदि की ओर अधिक आकृष्ट न होना, लोभी न बनना, धन की नश्वरता को समझते हुये केवल सामान्य निर्वहन-योग्य धन कमाना व उपयोग करना अधिक संग्रह न करना, मठाधीश आदि बनने की इच्छा न रखना ही चौथे प्रकार का अर्थ है। स्वाध्याय स्वयं का अध्ययन है।

ईश्वरप्रणिधान- अपने समस्त कर्मों के फल को परमात्मा को समर्पित करना व कर्मफल का पूर्णरूपेण त्याग कर देना ईश्वरप्रणिधान है। अनन्य भक्तिभाव से ईश्वर का मनन-चिन्तन करना, अपने आपको पूर्णरूपेण ईश्वर को समर्पित कर देना ही ईश्वरप्रणिधान है। जब साधक अपने कर्मफल का त्याग करता है, तो निश्चित रूप से वह जो भी कार्य करता है; वह स्वार्थरहित, पक्षपातरहित कार्य करता है। उसका चित्त

निर्मल हो जाता है और वह साधनापथ पर निर्बाध गति से आगे बढ़ता जाता है। उसके मन में राग-द्वेष जैसी भावनाएँ जगह नहीं बनाती हैं; जिससे साधक की भूमि दृढ़ हो जाती है।

श्रीमद्भगवद्गीता के 3.27 व 2.47 में ईश्वर प्रणिधान की ही व्याख्या हुई है। स्वयं भगवान् कहते हैं कि सभी कर्म मुझको समर्पित कर दो। साधक के ऐसा करने पर कर्म शुभाशुभ की श्रेणी से पार चले जाते हैं एवं साधक ईश्वरत्व की ओर उन्मुख हो जाता है। ईश्वरप्रणिधान से शीघ्र समाधि की सिद्धि होती है। ईश्वरप्रणिधान भक्ति-विशेष है और इस भक्तिविशेष के कारण मार्ग कंटकविहीन हो जाता है और शीघ्र समाधि की प्राप्ति हो जाती है। ईश्वरप्रणिधान विघ्नों को नष्ट कर शीघ्र ही समाधि प्रदान करता है। योगदर्शन में ईश्वर की सत्ता को स्वीकार किया जाता है। योगदर्शन का मुख्य उद्देश्य चित्तवृत्तियों का शोधन करना है। निर्बीज समाधि, जो कि आध्यात्मिक जीवन का परमलक्ष्य है, ईश्वरप्रणिधान से प्राप्त की जा सकती है[1]।

योगदर्शन में ईश्वर का स्वरूप

योगदर्शन ईश्वर को स्वीकार करता है। ईश्वर के स्वरूप के सम्बन्ध में महर्षि पतंजलि कहते हैं **: 1. क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः[2] 2. तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्[3] 3. स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्।[4] 4. तस्य वाचकः प्रणवः।[5] 5. तज्जपस्तदर्थ-भावनम्।[6] 6. ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च।[7]**

पुरुष-विशेष ईश्वर- महर्षि पतंजलि ने ईश्वर को पुरुष-विशेष कहा है। उनके अनुसार क्लेश, कर्म, विपाक एवं आशय से सर्वथा मुक्त

1. पा.यो.सू. 1.23
2. वही 1/24
3. वही 1/25
4. वही 1/26
5. वही 1/27
6. वही 1/28
7. वही 1/29

तथा अन्य पुरुषों से विशेष (उत्कृष्ट) पुरुष ही ईश्वर है। क्लेश–जो दुःख देते हैं, उन दुःख के कारणों को क्लेश कहते हैं। क्लेश पाँच हैं–अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष एवं अभिनिवेश (जीवित रहने की इच्छा)। इन क्लेशों से शुभ–अशुभ और इनसे मिश्रित कर्म उत्पन्न होते हैं। कर्मों के फल को विपाक कहते हैं। कर्म संस्कारों के समुदाय का नाम आशय है अर्थात् सुख दुख भोग आदि से उत्पन्न वासना ही आशय है। सामान्य पुरुष इन क्लेश कर्म आदि से प्रभावित होते हैं। जबकि ईश्वर इनसे सर्वथा अप्रभावित है। सामान्य जीव अविद्या, राग–द्वेष आदि से प्रभावित हो कर्म करता और फल भोगता है। जबकि ईश्वर इन सबसे मुक्त है। ईश्वर बन्धनग्रस्त जीवों (पुरुषों) से तो विशेष है ही, वह मुक्त आत्माओं से भी विशिष्ट है; क्योंकि मुक्त आत्माएँ पहले बन्धनग्रस्त थीं बाद में योगसाधना से मुक्त हुई। जबकि ईश्वर नित्यमुक्त है। वह कभी भी बन्धन में नहीं था और न उसके भविष्य में बन्धनग्रस्त होने की आशंका है। इस प्रकार का पुरुष–विशेष ही ईश्वर है। योग–दर्शन में ईश्वर सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापी, नित्य, अनादि, अनन्त, आप्तकाम एवं पूर्ण है। वह त्रिगुणातीत है। ईश्वर में ऐश्वर्य और ज्ञान की पराकाष्ठा है। ईश्वर गुरुओं का भी गुरु है। वह वेद–शास्त्रों का प्रथम उपदेष्टा है। प्रणव उसका वाचक है; उसका प्रतीक है। ईश्वर एक है। वह दयालु एवं करुणाशील है। जो ईश्वर की भक्ति करते हैं ईश्वर उनकी सहायता करता है और योगमार्ग की रुकावटों को दूर करता है। यद्यपि योगदर्शन में ईश्वर को विश्व का सृष्टिकर्ता, पालनकर्ता और संहारकर्ता के रूप में नहीं बताया गया है, किन्तु व्यासभाष्य तथा वाचस्पति मिश्र कृत तत्त्ववैशारदी में ईश्वर के सृष्टिरचयिता आदि का स्वरूप भी प्राप्त होता है। सृष्टि प्रकृति के विकास के फलस्वरूप ही हुई है। यद्यपि ईश्वर विश्व का स्रष्टा नहीं है, फिर भी वह विश्व की सृष्टि में सहायक होता है। इस प्रकार ईश्वर विश्व का निमित्तकारण है और प्रकृति उपादानकारण। यदि ईश्वर को मानने वाले सभी आस्तिक दर्शनों पर दृष्टिपात करें, तो हम पाते हैं कि सभी ईश्वरवादी भारतीय दर्शन ईश्वर की निम्न विशेषताओं को स्वीकार करते हैं– 1. सृष्टि का रचयिता, 2. कर्मफलप्रदाता,

3. एक, नित्य, शाश्वत, 4. सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापी, 5. वेदों का प्रकटयिता, 6. दयालु, कृपालु, करुणाशील हैं।

अष्टांग योग

महर्षि पतंजलि द्वारा प्रतिपादित योगदर्शन, में अष्टांग साधना का वर्णन प्राप्त होता है। अष्टांग का अर्थ है– अष्ट+अंग। अतः आठ अंगों वाली साधना अष्टांग साधना कहलाती है। महर्षि पतंजलि ने अपने योगसूत्र में तीन प्रकार की योग साधनाओं का वर्णन किया है :

1. प्रथम साधना उत्तम कोटि के साधकों के लिए है। उत्तम कोटि के साधक ईश्वरप्रणिधान की साधना करके भी समाधि को प्राप्त कर सकते हैं।
2. मध्यम कोटि के साधकों के लिए महर्षि पतंजलि ने दूसरे अध्याय में क्रियायोग का वर्णन किया है। क्रियायोग का अर्थ बताते हुए कहा गया है– **तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः**[1] अर्थात् तप, स्वाध्याय तथा ईश्वरप्रणिधान की संयुक्त साधना क्रियायोग कहलाती है; जिसका उद्देश्य समाधि भाव को प्राप्त करना व क्लेशों को क्षीण करना है।
3. सामान्य कोटि के साधकों के लिए है; जिनका न तो शरीर शुद्ध है और न ही मन। ऐसे साधकों को प्रारम्भ से ही साधना करते हुए महर्षि पतंजलि द्वारा प्रतिपादित अष्टांगयोग का आश्रय लेना चाहिए; जिससे साधक शरीर व मन की शुद्धि करके परिणामस्वरूप एकाग्र अवस्था को प्राप्त कर समाधिस्थ हो कैवल्य की प्राप्ति कर लेता है।

महर्षि पतंजलि ने अष्टांग योग को दो भागों में विभाजित किया है– 1. बहिरंग योग, 2. अन्तरंग योग।

बहिरंग योग

1. बहिरंग योग मे यम, नियम, आसन, प्राणायाम तथा प्रत्याहार आते

---

1. योगदर्शन 2/1

हैं; जो अवांछनीय कार्यो से मुक्ति दिलाता है, वह यम कहलाता है। यम शब्द संस्कृत की दो धातुओं से निर्मित हुआ है।

1. **यम् उपरमे**- ब्रह्म में रमण करना, संयम, आत्म नियंत्रण।

2. **यम् परिवेशणे**- सामाजिक बन्धन, दमन करना, संयत करना आदि। त्रिशिखब्राह्मणोपनिषद में कहा गया है- **देहेन्द्रियेषु वैराग्यं यम इत्युच्यते बुधैः**[1] अर्थात् यम शरीर और इन्द्रियों में वैराग्य की स्थिति है- ऐसा बुद्धिमान लोग मानते है। **यम्यते नियम्यते चित्ति अनेन इति यमः** अर्थात् चित्त को नियमपूर्वक चलाना यम कहलाता है। पातंजल योगसूत्र में पाँच प्रकार के यमों का वर्णन मिलता है।

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहाः यमाः।[2]

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह– ये पाँच यम है। इन्हें सार्वभौम महाव्रत भी कहा गया है **: जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्।**[3] ये महाव्रत तब बनते हैं; जब इन्हें जाति, देश, काल तथा समय की सीमा में न बाँधा जाये। इसमें सर्वप्रथम अहिंसा है।

क. **अहिंसा**- किसी भी प्राणी को मन-वचन-कर्म से कष्ट ना देना अहिंसा कहलाता है। याज्ञवल्क्यसंहिता में कहा गया है।

मनसा कर्मणा वाचा सर्वभूतेषु सर्वदा।
अक्लेशजननंप्रोक्तमहिंसात्वे न योगिभिः॥[4]

मन, वचन एवं कर्म द्वारा किसी भी प्राणी को कष्ट ने पहुँचाना ही अहिंसा कहलाता है। योगसूत्र में अहिंसा के फल के बारे में लिखा है- **अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः।**[5]

---

1. त्रिशिख ब्रह्मणोपनिषद 29
2. योगदर्शन 2/30
3. वही 2/31
4. याज्ञवल्य संहिता
5. योगदर्शन 2/35

अर्थात् अहिंसा की पूर्णता और स्थिरता होने पर साधक के सम्पर्क में आने वाले सभी प्राणियों की हिंसा की प्रवृत्ति दूर हो जाती है। यह अहिंसा का मापदण्ड है।

ख. **सत्य**– मन वचन कर्म में एकरूपता अर्थात् जैसा देखा और अनुमान करके बुद्धि से निर्णय किया अथवा सुना हो, वैसा ही वाणी से कथन कर देना और बुद्धि में धारण करना सत्य है। सत्य के फल के बारे में बताते हुए योगदर्शन में कहा है **: सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्**[1] अर्थात् सत्य की प्रतिष्ठा होने पर वाणी और विचारों में शक्ति उत्पन्न हो जाती है। ऐसा व्यक्ति जो कुछ भी बोलता है, वह फलित होने लगता है अर्थात् वाक्सिद्धि हो जाती है।

ग. **अस्तेय**– लोभ के वशीभूत होकर शास्त्रों की मर्यादा को तोड़कर, अन्याय द्वारा दूसरों के पदार्थों को बलपूर्वक या छल–कपट से ग्रहण करना स्तेय (चोरी) है। इसका त्याग करना अर्थात् चोरी को छोड़ना अस्तेय कहलाता है। मन, वचन, कर्म से दूसरे के द्रव्य की इच्छा न करने को ही स्तेय है। योगसूत्र में अस्तेय सिद्धि के विषय में कहा है **: अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम्**[2] अर्थात् अस्तेय की दृढ़ स्थिति होने पर सभी रत्नों की प्राप्ति होती है।

घ. **ब्रह्मचर्य**– मन को ब्रह्म या ईश्वरपरायण बनाये रखना ही ब्रह्मचर्य है। वीर्यशक्ति की अविचल रूप में रक्षा करना या धारण करना ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य सिद्ध कर लेने वाले साधकों के संबंध में पातंजल योगसूत्र में कहा गया है **: ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः**[3] अर्थात् ब्रह्मचर्य की प्रतिष्ठा होने पर साधक को वीर्यलाभ होता

---

1. योगदर्शन 2/36
2. वही 2/37
3. वही 2/38

है। वीर्यलाभ होने से साधना के अनुकूल गुण समूह पैदा होते हैं; जिससे योगाभ्यासी को आत्मज्ञान प्राप्त होता है।

ङ. **अपरिग्रह**– आवश्यकता से अधिक संग्रह न करना अपरिग्रह कहलाता है। संचयवृत्ति का त्याग अपरिग्रह है। इन्द्रियों को वश में रखने से विषयों के भोग से पूर्ण विरक्त हो जाता है। ऐसे आचरण से अपरिग्रह की सिद्धि होती है। पूर्ण अपरिग्रह को प्राप्त साधक में काल-ज्ञान-संबंधी सिद्धि आ जाती है। योगदर्शन में इस संबंध में कहा गया है: **अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासम्बोधः**[1] अर्थात् अपरिग्रह के स्थिर होने से जन्म-जन्मान्तर का ज्ञान प्राप्त होता है। इसका अर्थ यह हुआ कि पूर्वजन्म में हम क्या थे, कैसे थे। इस जन्म की परिस्थितिया ऐसी क्यों हुई एवं हमारा भावी जन्म कब, कहाँ, कैसा होगा? इस ज्ञान का उदय होना अपरिग्रह साधना द्वारा ही सम्भव होता है। यम व्यक्ति के जीवन का सामाजिक एवं बाह्य क्रियाओं को सामंजस्य पूर्ण बनाते हैं।

नियम– नियम का तात्पर्य आन्तरिक अनुशासन से है। अपने जीवन में इस अनुशासन को उत्पन्न और विकसित करना आवश्यक है। योगदर्शन में कहा गया है : **शौचसन्तोषतपस्स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः**[2] अर्थात् शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय व ईश्वरप्रणिधान– ये 5 नियम हैं।

क. **शौच**– शौच का अर्थ है– परिशुद्धि, सफाई, पवित्रता। शौच मुख्यतः दो हैं– बाह्य और आभ्यान्तर शौच यह पवित्रता दो प्रकार की कही गई है।

1. **बाह्य शौच**– जल व मिट्टी आदि से शरीर की शुद्धि, स्वार्थ त्याग, सत्याचरण से मानव व्यवहार की शुद्धि, विद्या व तप से पंचभूतों की शुद्धि, ज्ञान से बुद्धि की शुद्धि– ये सब बाह्य शुद्धि कहलाती है।

---

1. योगदर्शन 2/39
2. वही 2/32

2. **आभ्यान्तर शौच**- अंहकार, राग, द्वेष, ईर्ष्या, काम, क्रोध आदि मलों को दूर करना आन्तरिक पवित्रता कहलाती है। योगसूत्र में इसके फल के विषय में कहा है कि **शौचात् स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः**[1] अर्थात् शुद्धि का मनसा, वाचा, कर्मणा पालन करने से स्वयं शरीर अवयवों के प्रति घृणा का भाव तथा अन्य व्यक्तियों के साथ शारीरिक संपर्क बनाने की [आकांक्षा] इच्छा का अभाव घटित होता है।

ख. **सन्तोष**- अर्थात् सन्तुष्टि का होना है। अन्तःकरण में सन्तुष्टि के भाव उदय हो जाना ही सन्तोष है अर्थात् अत्यधिक पाने की इच्छा का अभाव ही सन्तोष है। योगसूत्र में सन्तोष का फल बताते हैं : **सन्तोषादनुत्तमसुखलाभः**[2] अर्थात् चित्त में सन्तोष भाव प्रतिष्ठित हो जाने पर योगी को निश्चय सुख अर्थात् आनन्द प्राप्त होता है।

ग. **तप**- तप योगसाधना में उपस्थित होने वाले विक्षेप, सदी-गर्मी, भूख-प्यास मान-अपमान, सुख-दुःख, हर्ष-शोक इत्यादि द्वन्द्वों को सहन करते हुए अपने पथ पर आगे बढ़ते जाना ही तप है। योगदर्शन में फल बताते हुए कहा है : **कायेन्द्रियसिद्धिर-शुद्धिक्षयात्तपसः**[3] अर्थात् मानसिक, वाचिक, कायिक तप के अनुष्ठान द्वारा अशुद्धि का क्षय हो जाने से, साधक को शरीर और इंद्रियों से संबंधी विभिन्न आंतरिक क्षमताओं की प्राप्ति होती है।

घ. **स्वाध्याय**- स्वाध्याय का तात्पर्य है- आचार्य विद्वान् तथा गुरुजनों से वेद, उपनिषद्, दर्शन आदि मोक्षशास्त्रों का अध्ययन करना। स्वाध्याय का दूसरा अर्थ है- स्वयं का अध्ययन करना। महर्षि व्यास जी ने लिखा है कि प्रणव अर्थात् ओंकार मन्त्र का विधिपूर्वक जप करना स्वाध्याय है। महर्षि पतंजलि के अनुसार

---

1. योगदर्शन 2/40
2. वही 2/42
3. वही 2/43

स्वाध्याय दिव्य नाम से संपर्क करना है : **स्वाध्यायादिष्टदेवता-सम्प्रयोग:**[1] अर्थात् प्रणव आदि पवित्र शब्दों का जप तथा मोक्ष आदि शास्त्रों के अध्ययनरूप स्वाध्याय के निरंतर करने से इष्ट दिव्य आत्माओं के साथ संपर्क होने लगता है।

ङ. **ईश्वर प्रणिधान**- ईश्वर की उपासना या भक्ति विशेष को ईश्वर प्रणिधान कहते हैं। सब कुछ परमेश्वर के निमित्त अर्पित कर देना ईश्वरप्रणिधान है। महर्षि पतंजलि के अनुसार : **समाधि-सिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्**[2] अर्थात् मन, वाणी तथा शरीर की समस्त क्रियाओं को प्रभु के प्रति सविनय समर्पित कर देने अर्थात् ईश्वर-प्रणिधान का निरन्तर अभ्यास करने से साधक को समाधि-अवस्था की प्राप्ति होने लगती है।

3. **आसन**- आसन शब्द के दो अर्थ हैं- पहला सीट पर बैठने का स्थान, या शरीर की विभिन्न अवस्थाएँ। दूसरा अर्थ शारीरिक अवस्था शरीर मन और आत्मा जब एक संग और स्थिर हो जाता है उससे जो सुख की अनुमति होती है, वह स्थिति आसन कहलाती है। योगदर्शन के अनुसार; **स्थिरसुखमासनम्**[3] अर्थात् स्थिरता और सुखपूर्वक बैठना आसन कहलाता है।

4. **प्राणायाम**- प्राणायाम दो शब्दों से मिलकर बना है- प्राण+आयाम। प्राण का अर्थ होता है : जीवनी शक्ति। आयाम के दो अर्थ है : पहला नियन्त्रण करना, रोकना तथा दूसरा लम्बा या विस्तार करना। प्राणवायु का निरोध करना प्राणायाम कहलाता है। महर्षि पतंजलि के अनुसार; **तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिर्विच्छेदः प्राणायाम:**[4] अर्थात् आसन में स्थिर हो जाने पर श्वास लेने व

1. योगदर्शन 2/43
2. वही 2/45
3. वही 2/46
4. वही 2/49

श्वास को छोड़ने की स्वाभाविक गति का विच्छेद होना प्राणायाम कहलाता है।

प्राणायाम के प्रकार– महर्षि पतंजलि के योगदर्शन के अनुसार प्राणायाम के चार प्रकार है **: बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकाल–संख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः**[1] अर्थात् बाह्यवृत्ति, आभ्यन्तरवृति, स्तम्भवृत्ति इन भेदों वाला प्राणायाम, देश, काल और संख्या के द्वारा नापा गया दीर्घ और सूक्ष्म होता जाता है।

बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः[2] अर्थात् चौथा प्राणायाम बाह्य और आभ्यन्तर विषयक प्राण के आक्षेप अर्थात् आलोचन स्वरूप वाला होता है।

प्राणायाम का फल– महर्षि पतंजलि योग दर्शन में कहते हैं **:**

ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्।[3] **धारणासु च योग्यता मनसः।**[4] अर्थात् प्राणायाम के नियमित अभ्यास से प्रकाशावरण कमज़ोर पड़ने लगता है तथा धारणाओं का अनुष्ठान कर सकने की मानसिक– सक्षमता की प्राप्ति भी होती है।

5. **प्रत्याहार**– प्रत्याहार का सामान्य अर्थ होता है, पीछे हटना, उल्टा होना, विषयों से विमुख होना। इसमें इन्द्रियाँ अपने बहिर्मुख विषयों से अलग होकर अन्तर्मुखी हो जाती हैं, इसलिए इसे प्रत्याहार कहा गया है। इन्द्रियों के संयम को प्रत्याहार कहते हैं। पातंजल योग के अनुसार; **स्वविषयासम्प्रयोगे चित्त–स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः**[5] अर्थात् इन्द्रियों का अपने–अपने विषयों के साथ सम्पर्क न रहने पर, उनका चित्त के सदृश निरुद्ध–सा हो जाना प्रत्याहार कहलाता है।

---

1. योगदर्शन 2/49
2. वही 2/50
3. वही 2/51
4. वही 2/52
5. वही 2/53

प्रत्याहार का फल-पातंजल योग के अनुसार; **ततः परमा-वश्यतेन्द्रियाणाम्**[1] अर्थात् प्रत्याहार के घटित हो जाने पर साधक को सहज ही इन्द्रियों पर परमवशता प्राप्त हो जाती है।

2. अन्तरंग साधन

महर्षि पतंजलि ने निम्न तीन अन्तरंग साधन बताये हैं : धारणा, ध्यान, समाधि।

1. धारणा- महर्षि पतञ्जलि द्वारा प्रतिपादित अष्टांग योग के अन्तरंगत यह योग का छठा अंग है। मन (चित्त) को एक विशेष स्थान पर स्थिर करने का नाम धारणा है। वस्तुत: यह मन की स्थिरता का द्योतक है। इसमें चित्त की पूर्णता एकाग्रता रहती है।

महर्षि पतंजलि अनुसार; **देशबन्धश्चित्तस्य धारणा**[2] अर्थात् (बाहर या शरीर के भीतर कही भी) किसी एक स्थान विशेष (देश) में चित्त को बाँधना धारणा कहलाता है।

2. ध्यान- धारणा की उच्च अवस्था ध्यान है। ध्यान शब्द की उत्पत्ति ध्यै चिन्तायाम् धातु से होती है; जिसका अर्थ होता है, चिन्तन करना। किन्तु यहाँ पर ध्यान का अर्थ चिन्तन का एकाग्रीकरण करना है।

चित्त को एक ही लक्ष्य पर स्थिर करना अर्थात् ईश्वर, परमपिता परमात्मा में अपने चित्त को एकाग्र कर देना ही ध्यान है। योगशास्त्रों के अनुसार जिस ध्येय वस्तु में चित्त को लगाना और ध्येयमात्र में एक ही तरह की वृत्ति का प्रवाह चलना, उसके बीच में किसी दूसरी वृत्ति का नहीं उठना ध्यान कहलाता है। महर्षि पतंजलि ने योगदर्शन में ध्यान को इस प्रकार वर्णित किया है : **तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्**[3] अर्थात् उस धारणास्थल में ध्येय विषयक ज्ञान का एक समान प्रवाह बने रहना, अन्य ज्ञान का मध्य में न आना, ध्यान कहलाता है।

---

1. योगदर्शन 2/54
2. वही 2/55
3. वही 3/1

3. समाधि

अष्टांग योग में समाधि का महत्त्वपूर्ण एवं विशिष्ट स्थान है। यह साधना की चरम अवस्था है; जिसमें योगी का बाह्य जगत् के साथ संबंध टूट जाता है। यह योग की एक ऐसी दशा है, इसमें योगी चरमोत्कर्ष की प्राप्ति कर मोक्षप्राप्ति की ओर अग्रसर होता है। अतः मोक्षप्राप्ति से पूर्व योगी को समाधि की अवस्था से गुजरना पड़ता है। योगशास्त्र में समाधि को मोक्षप्राप्ति का मुख्य साधन माना है। महर्षि पतंजलि के अनुसार : **तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः**[1] अर्थात् वह ध्यान ही जब ध्येय वस्तु मात्रभासात्मक हो जाता है तथा ध्याता स्वयं के होने की प्रतीति से रहित-सा हो जाता है, तब इसे समाधि कहते है। समाधि की अवस्था को सीधे-सरल शब्दों में हम इस प्रकार समझ सकते हैं कि धारणा, ध्यान और ध्यान की ही प्रगाढ़तम अवस्था समाधि है। इस अवस्था में ध्याता को ध्येयवस्तुमात्र की प्रतीति होती है अर्थात् वह ध्याता के रूप में स्वयं की समुपस्थिति को भी भूल- सा जाता है। इस अवस्था को समाधि कहते है।

पंचक्लेश

अविद्या प्रमुख क्लेश है, इसी से अन्य सारे क्लेशों की उत्पत्ति होती है। अगर अविद्या ही न रहे, तो अन्य क्लेश भी उत्पन्न नहीं होंगे। महर्षि आगे अविद्या की परिभाषा बताते हुए साधन पाद के पाँचवें सूत्र में कहते हैं : **अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिर-विद्या**[2] अर्थात् अनित्य को नित्य समझ लेना, जो पवित्र नहीं है उसे पवित्र समझ लेना, जो दुःख देने वाली वस्तु है या जो दुःख उत्पन्न करें, उसे सुख देने वाली समझ लेना तथा जो अनात्म है अर्थात् जो अपना नहीं है, उसे अपना समझ लेना ही अविद्या है।

---

1. योगदर्शन 3/2
2. वही 3/3

अविद्या के क्षेत्र

अविद्या के विभिन्न क्षेत्र भी हैं जो कि अविद्या कितनी तीव्र स्तर पर व्याप्त है; यह बताते हैं। महर्षि पतंजलि कहते हैं कि **अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम्**[1] अर्थात् अविद्याजनित अन्य क्लेशों की चार अवस्थाएँ हैं- प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार।

प्रसुप्त अवस्था क्लेश की प्रथमावस्था है। जिस समय चित्त में रहते हुए भी क्लेश अपना कार्य अर्थात् हमारे मन में विक्षेप उत्पन्न नहीं कर पाते हैं, उस अवस्था को प्रसुप्त कहा जाता है। उदाहरण स्वरूप जैसे बाल्यावस्था में एक शिशु के मन में काम-भावना सोई हुई अवस्था में रहती है, उसी प्रकार मन में विद्यमान क्लेश प्रसुप्त अवस्था में सोए हुए रहते हैं। यही क्लेश का पहला चरण है। दूसरे चरण में क्लेश तनु अर्थात् हीन शक्ति वाली अवस्था में विद्यमान रहता है। जब क्लेशों की कार्य करने की शक्ति को योगसाधनों द्वारा कम अर्थात् ह्रास कर दिया जाता है, यही अवस्था क्लेश की तनु अवस्था है। उदाहरणत: अगर मनुष्य के मन में राग उत्पन्न होता है, तो इस राग को योग के विभिन्न साधनों जैसे तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान आदि के द्वारा कम किया जा सकता है। राग तीसरे चरण में क्लेशविच्छिन्न अवस्था में विद्यमान रहता है। जब कोई क्लेश किसी दूसरे क्लेश की चरमावस्था में पहुँचने से दब जाता है, तब यह अवस्था विच्छिन्न अवस्था कहलाती है। उदाहरणस्वरूप अगर राग अपने पूर्ण रूप में व्याप्त हो गया है; तब द्वेष, जो कि राग से ही उत्पन्न हुआ है, दब जाता है और इसी प्रकार जब द्वेष अपनी चरमावस्था में उभरकर परिलक्षित होता है; तो राग दब जाता है। यही अवस्था विच्छिन्न अवस्था कहलाती है।

चौथी अवस्था में एक क्लेश अपनी समस्त शक्तियों के साथ परिलक्षित होता है। यह अवस्था उदार अवस्था कहलाती है; अर्थात् जब पंचक्लेशों में कोई एक क्लेश अपनी सम्पूर्ण अवस्था में उभर कर सामने

1. योगदर्शन 2/6

आता है और चित्त पर छा जाता है। यही अवस्था उदार अवस्था कहलाती है। उदाहरण- जब राग चित्त पर आच्छादित होता है, तब केवल राग ही अपनी चरमावस्था में रहेगा और कोई क्लेश नहीं। यही क्लेश की पूर्णावस्था है। तब भी वह योग के अविद्या से उत्पन्न अन्य क्लेश हैं। इस प्रकार क्लेशों के क्षेत्र अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। किसी भी क्लेश के उभरने पहले ही इसकी रोकथाम आवश्यक है। अगर क्लेश परिलक्षित भी हो जाए, विभिन्न साधनों द्वारा दग्धबीज किया जा सकता है। महर्षि पतंजलि क्लेश का वर्णन करते हुए कहते हैं कि अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश- ये क्लेश के भेद हैं।

अस्मिता- सर्वप्रथम अस्मिता, जो कि मनुष्य का अहंभाव है, इसका महर्षि पतंजलि विस्तारपूर्वक वर्णन करते हुए कहते हैं कि **दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता**[1] अर्थात् दृक् शक्ति और दर्शन शक्ति- इन दोनों को एक मान लेना अस्मिता है। यहाँ पर यह समझ लेना आवश्यक होगा कि दृक् शक्ति और दर्शन शक्ति का वास्तविक अर्थ क्या है? दृक् शक्ति अर्थात् जो देख रहा है अर्थात् पुरुष; और दर्शन शक्ति बुद्धि को समझना चाहिए। दृक् और दर्शन शक्तियाँ ये दोनों ही अलग व अपनी-अपनी विशेष पृथक् सत्ता रखती है। पुरुष चेतन है और दर्शन शक्ति जड़ है। अविद्या के कारण दोनों का यह पृथक्करण धूमिल हो जाता है और दोनों संयुक्त दिखाई देने लगते हैं। यह मेरा शरीर है, यह मेरा पुत्र, पिता आदि का संज्ञान होना अविद्या के ही कारण होता है। अविद्या-जनित बुद्धि ही अस्मिता है। पुरुष के बुद्धि से तादात्म्य को अस्मिता कहते हैं। अस्मिता वह चेतना है, जो पुरुष को उसके आवरण से, जो कि प्रकृति द्वारा प्रदत्त त्रिगुणात्मक शरीर है, आबद्ध रखता है अर्थात् जोड़े रखता है।

राग व द्वेष क्लेश- राग व द्वेष के सम्बन्ध में महर्षि पतंजलि कहते हैं-**सुखानुशयी रागः**[2] अर्थात् सुख की प्रतीति के पीछे रहने वाला

1. प.यो.सू. 2/6
2. वही 2/7

क्लेश राग है एवं- **दुखानुशयी द्वेषः**[1] अर्थात् दुःख की प्रतीति के पीछे रहने वाला क्लेश द्वेष है। सुख भोगने के अनन्तर जो चित्त में उसके भोगने की आकांक्षा बनी रहती है, उसे ही राग कहा जाता है। अस्मिता क्लेश के द्वारा देह सहित एकादश इन्द्रियों (पंच ज्ञानेन्द्रियों, पंच कर्मेन्द्रियों एवं मन) में आत्मा की प्रतीति (अनुभूति) होने से जिन वस्तुओं एवं विषयों के द्वारा सुख की अनुभूति (प्रतीति) होती है और चेतन जीव को उन भोगों के स्मरण एवं साधनों से उन पदार्थों या निमित्तों से आसक्ति या अनुरक्ति हो जाती है, तथा सुख-साधनों की प्राप्ति में आकांक्षा, तृष्णा अथवा लोभ उत्पन्न हो जाता है। साथ ही उसके संस्कार चित्त में स्थित हो जाते हैं, उन्हें ही राग कहा जाता है। अस्मिता का कार्य राग हुआ, जो अविद्या के कारण होता है। सभी भोग राग ही हैं, जो दिखने में तो सुख प्रतीत होते हैं, परन्तु हैं दुःख ही; इनमें सार नहीं है। ये सभी राग दुःख को ही देने वाले हैं। वास्तव में बन्धन का कारण यह लगाव, यह राग ही है। इसी से दुःखों की उत्पत्ति होती है। द्वेष के सम्बन्ध में व्याख्या करते हुये स्वामी सत्यानन्द सरस्वती कहते हैं कि पीड़ा से पलायन की भावना द्वेष है। राग का विरोधी द्वेष है। राग और द्वेष-दोनों ही बन्धनकारक हैं। ये मन की दशाएँ हैं; जिनका निर्माण आकर्षण और विकर्षण द्वारा होता है। राग और द्वेष में जकड़े होने के कारण हमारी चेतना निम्न तल पर ही रहती है। इस तरह से देखें तो राग-द्वेष पृथक् नहीं, अपितु हमारे मन के दो पक्ष कहे जा सकते हैं।

अभिनिवेश- स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः[2] अर्थात् जो परम्परागत स्वभाव से चला आ रहा है एवं जो मूढ़ों की भाँति विवेकशील पुरुषों में भी विद्यमान देखा जाता है; वह (मरणभयरूप क्लेश) अभिनिवेश है। महर्षि व्यास की व्याख्या के अनुसार नित्य ही सभी प्राणियों की यह आत्माभिलाषा रहती है कि मेरा अभाव न हो, मैं जीवित रहूँ। पहले जिसने मरण का अनुभव नहीं किया, वह इस प्रकार

1. प.यो.सू. 2/8
2. पा.यो.सू. 29

की इच्छा नहीं कर सकता। इसी से पूर्वजन्म का अनुभव प्रतीत होता है। यह अभिनिवेश क्लेश स्वरसवाही है। यह जातमात्र कृमि में भी देखा जाता है। प्रत्यक्ष, अनुमान तथा आगम द्वारा असम्पादित उच्छेदज्ञानस्वरूप मरणभय से पूर्वजन्मानुभूत मरणदु:ख का अनुमान होता है। जिस प्रकार अत्यन्त मूढ़ में यह क्लेश देखा जाता है, उसी प्रकार विद्वान् में अर्थात् पूर्वापरकोटि के ज्ञाता व्यक्ति में भी देखा जाता है; क्योंकि कुशल और अकुशल- इन दोनों में ही मरण दु:खानुभव के कारण यह वासना समान रूप से रहती है। राग सुखानुशयी है, द्वेष दु:खानुशयी है और अभिनिवेश सुख-दु:ख-विवेकहीन या मूढ़भाव का अनुशयी होता है।

पंचम अध्याय

महर्षि पतंजलि

महर्षि पतंजलि का जीवन का परिचय

महर्षि पतंजलि योग के आदि ऋषि हैं। योग प्राचीन ऋषि–मुनियों, तत्त्ववेत्ताओं द्वारा प्रतिपादित अनमोल ज्ञान और विज्ञान से युक्त एक अति विशिष्टताओं से परिपूर्ण जीवन मार्ग है। ऋषि–महर्षियों ने आन्तरिक जगत् में अतुलनीय अनुभव किये और उन आन्तरिक अनुभवों का फल मानसिक सन्तुलन, सामाजिक, आध्यात्मिक और बौद्धिक सामंजस्य के रूप में निर्धारित हुआ। यह बात सत्य है कि बाहरी खोज जैसे–जैसे आगे बढ़ती है, ऊपर उठती है; वैसे वैसे असंतोष, चंचलता और भय भी बढ़ता जाता है। महर्षि पतंजलि ऐसे योगी तत्त्वद्रष्टा हुये; जिन्होंने मानव मन को समझकर और भविष्य में आने वाली अस्थिरता की पूर्व कल्पना करते हुये उससे उबरने का मार्ग प्रशस्त किया। उन्होंने योगविद्या का योगसूत्र नामक शास्त्र हमें दिया; जिसमें देश, काल, धर्म और लिंग की सीमाओं से परे सार्वभौम सत्य का प्रतिपादन किया है।

जीवन परिचय– योगदर्शन के सूत्रकार पतंजलि मुनि की जीवनी का यथातथ्य रूप से पता नहीं चलता। किन्तु यह बात निःसन्देह सिद्ध है कि पतंजलि मुनि भगवान् कपिल के पश्चात् और अन्य चार दर्शनकारों से बहुत पूर्व हुये। एक मत के अनुसार महर्षि पतंजलि ही योग, व्याकरण महाभाष्य और आयुर्वेद के रचयिता हैं। जैसा कि कहा गया है–

योगेन चित्तस्य पदेन वाचां, मलं शरीरस्य च वैद्यकेन।
योऽपाकरोत् तं प्रवरं मुनीनां, पतञ्जलिं प्राञ्जलिरानतोऽस्मि।

अर्थात् मुनियों में श्रेष्ठ महर्षि पतंजलि को मैं हाथ जोड़कर नमस्कार करता हूँ; जिन्होंने योग से चित्त का, पद (व्याकरण) से वाणी का और वैद्यक (आयुर्वेद के द्वारा) से शरीर के मल को दूर किया है। प्राचीन भारत के लेखकों ने अपने जीवन परिचय का उल्लेख नहीं किया है या बहुत ही कम किया है। कहीं-कहीं ढूँढ़ने से इन प्राचीन लेखकों की जीवनी की झलक एक-आध सूत्र में मिलती है। योगदर्शन के सूत्रकार महर्षि पतंजलि मुनि की जीवनी का ठीक-ठीक पता नहीं चलता। किन्तु यह बात निःसंदेह सिद्ध है कि पतंजलि मुनि भगवान् कपिल के पश्चात् और अन्य चारों दर्शनकारों महर्षि गौतम-(न्यायदर्शन), कणाद (वैशेषिकदर्शन) जैमिनि (पूर्वमीमांसा) तथा बादरायण (उत्तर मीमांसा) से बहुत पूर्व हुए हैं। इसका काल कोई 200 ई. पू. माना जाता है। महर्षि पतंजलि काशी में ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी में चर्चा में थे। इनका जन्म **गोननरद्य** (गोनिया) में हुआ था; लेकिन कहते हैं कि ये काशी में नागकूप में बस गये थे। यह भी माना जाता है कि वे व्याकरणाचार्य पाणिनि के शिष्य थे। पतंजलि को शेषनाग का अवतार भी माना जाता है।

महर्षि पतंजलि के जीवन के विषय में कई मत प्राप्त होते हैं। पतंजलि नाम के पीछे भी कई रोचक कथा बहुत प्रचलित हैं। पहली दन्तकथा के अनुसार पतंजलि शेषनाग का अवतार है; क्योंकि वह पाणिनि की हथेली पर एक छोटे साँप के रूप में उतरे थे। इसलिए उसका नाम पतंजलि (पत् अर्थात् गिरा, अंजलि अर्थात् हथेली में) पड़ा। दूसरी कथा के अनुसार वह अपनी माँ की गुहिका से गिर पड़े, इसलिए इनका नाम पतंजलि पड़ा। उनकी माँ का नाम गोनिका था।

पतंजलि नाम के पीछे एक रोचक कथा बहुत प्रचलित है; जो इस प्रकार है- प्रातः काल सूर्योदय के समय इनके पिता ध्यान-साधना के पश्चात् सूर्यदेव को अर्घ्य प्रदान कर रहे थे। अर्घ्यदान करने के दौरान दिव्य रूप से अपने पिता की अज्जलि में गिरने के कारण इनका नाम पतंजलि हुआ। एक अन्य कथा के अनुसार साध्वी गोनिका दिव्य

पुत्र हेतु ध्यान-साधना कर रहीं थी एवं स्वयं भगवान् भी आदिशेष के रूप में पृथ्वी पर आना चाहते थे तथा अपने अवतरण के लिये किसी उच्चकोटि की आत्मा का शरीर चाहते थे। अपने जीवन की अन्तिम और दिव्य इच्छा को पूरा करने के लिये साध्वी गोनिका सूर्यदेव की प्रातः आराधना कर रही थी। साध्वी गोनिका ने अपनी अंजलि में जल लिया और सूर्यदेव को अर्घ्य प्रदान करने लगीं। आँखें बन्द करने के बाद वे सूर्यदेव का ध्यान करने लगीं और अपने हाथों का जल उन्होंने जैसे ही चढ़ाया, उनके हाथों में एक सूक्ष्म सर्प प्रकट हो गया; जिसने धीरे-धीरे नवजात बालक का रूप ले लिया और बालक ने साध्वी को उसे पुत्र रूप में स्वीकार करने का आग्रह किया। साध्वी गोनिका ने दिव्य बालक को अपने पुत्र के रूप में स्वीकार कर लिया और अञ्जलि में गिरने के कारण पतंजलि नाम रखा। एक अन्य कथा में उन्हें माँ अनुसूया के तीन पुत्रों में एक पुत्र माना जाता है। योगदर्शनकार पतंजलि के जीवन के विषय में कई मत प्राप्त होते हैं। कोई उन्हें नाग जाति में उत्पन्न हुआ मानते हैं एवं कोई उन्हें शेषनाग का अवतार मानतें हैं। परन्तु निश्चित ही श्रीपतंजलि भगवान् कपिल के पश्चात् और अन्य चारों दर्शनकारों से बहुत पूर्व हुये। उपर्युक्त मतों में उनके जन्म नाम के विषय में हमने जाना कि भगवान् सविता को अर्घ्यदान देते हुये अञ्जलि में आकर गिरने से नाम पतंजलि हुआ। माँ अनुसूया (जो कि सप्त ऋषियों में प्रथम अत्रि की पत्नी हैं) ने त्रिमूर्ति ब्रह्मा, विष्णु, महेश की ली हुई परीक्षा उत्तीर्ण की और उन्हें अपने पुत्रों के रूप में पाया।

योगसूत्रकार एवं रचनाकालः- महर्षि पतंजलि योगसूत्र के रचनाकार हैं एवं योगदर्शन इनका एक बड़ा ही महत्त्वपूर्ण शास्त्र है। इसमें चार पाद हैं। पहले पाद को समाधि पाद कहा जाता है; जिसमें 51 सूत्र हैं। द्वितीय पाद को साधन पाद कहा जाता है; जिसमें 55 सूत्र हैं। तृतीय पाद को विभूति पाद के नाम से जाना जाता है, इसमें 55 सूत्र हैं और चतुर्थ पाद को कैवल्य पाद से जाना जाता है। इसमें 34 सूत्र हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण योगसूत्र में कुल मिलकर 195 सूत्र हैं।

योगसूत्र का आधार एवं रचनाकाल के संबंद्ध में एक परम्परा यह कहती है कि हिरण्यगर्भ (ब्रह्मा) द्वारा योगसूत्र की रचना हुई थी। परन्तु विभिन्न तथ्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि योगसूत्रों की रचना पतंजलि ने की है। कुछ विद्वानों का मानना है कि योगसूत्रकार पतंजलि का जीवनकाल पाँच हजार वर्ष पूर्व था। योगसूत्र में भी काल से सम्बन्धित एवं समकालीन विद्वानों अथवा राजा से सम्बन्धित कोई तथ्य व प्रमाण नहीं है। अतः विषयवस्तु से योगसूत्र के रचनाकाल के सम्बन्ध में कोई प्रमाण नहीं मिलते हैं। परन्तु विभिन्न विद्वानों के तत्त्व ग्रन्थों एवं ग्रन्थकारों के अध्ययन से यह बात सामने आई है कि योगसूत्र का रचनाकाल ई. पू. चौथी सदी में रहा होगा। डॉ. राधाकृष्णन ने योगसूत्र का लेखन 300 ई. पू. माना है। प्रो. एस. एन. दासगुप्त ने *हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलासॉफी* में दोनों पतंजलियों को एक माना है एवं योगसूत्र का लेखन ई. पू. दूसरी सदी में हुआ ऐसा माना है।

मुक्ति का उपाय- जिस कारण मनुष्य दुःखों का भोग करता हुआ इस जन्म मरण के बंधन में बँधा रहता है, उनके कारणों को दूर करने के लिए महर्षि पतंजलि ने तीन प्रकार की योग-साधनाओं का वर्णन किया है। जो इस प्रकार हैं-

प्रथम साधना- उच्चकोटि के साधकों हेतु साधनामार्ग चित्तवृति निरोध का उपाय बताते हुए महर्षि ने **अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः**[1] अर्थात् अभ्यास और वैराग्य के द्वारा चित्त की समस्त वृत्तियों का निरोध हो जाता है। अभ्यास का तात्पर्य बार-बार दुहराने से है। अभ्यास एक साधना है। प्रयत्न की पूर्ण स्थिति को अभ्यास कहते हैं। इस प्रयत्न के अन्तर्गत वह सभी अभ्यास हैं; जो कि चित्त वृत्तियों के निरोध में सहायक हैं। अभ्यास की नींव में श्रद्धापूर्वक लगातार दीर्घकाल तक साधना करने से दृढ़ता, स्थिरता और निपुणता आती है।

---

1. पा.यो.सू. 1/12

द्वितीय साधना- मध्यम कोटि के साधकों के लिये महर्षि ने क्रियायोग का साधन कहा है, **तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः।**[1] तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान क्रियायोग है। तप से तात्पर्य मन, वचन कर्म से तपना है। जिस प्रकार स्वर्ण को तपाने से उसकी अशुद्धियाँ दूर हो जाती हैं, उसी प्रकार साधक मन की अशुद्धियों को अनुशासन द्वारा दूर कर सकता है। स्वाध्याय से तात्पर्य है- स्वयं के विषय में जानना एवं श्रेष्ठ पुस्तकों का अध्ययन एवं ईश्वर प्रणिधान से तात्पर्य ईश्वर के प्रति पूर्ण समर्पण से है।

तृतीय साधना- साधारण साधकों के लिए एवं सामान्य जनों के लिये समान रूप से उपयोगी है। यह साधना अष्टांग योग की साधना है, **यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि।**[2] अर्थात् यम, नियम आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि योग के ये आठ अंग हैं। इनमें से प्रथम पाँच को बहिरंग योग एवं अन्य तीन को अन्तरंग योग कहा जाता है। इस प्रकार महर्षि पतञ्जलि योगसाधकों का मार्ग प्रशस्त करते हैं और त्रिविध दुःखों से पूर्ण निवृति के उपाय बताते हैं।

आदिगुरु शंकराचार्य

श्रुतिस्मृतिपुराणानामालयं करुणालयम्।
नमामि भगवत्पादं शङ्करं लोकशङ्करम्।।

आदिगुरु शंकराचार्य जी का जीवन परिचय- आदिशंकराचार्य जी का जन्म 788 ई. मे, केरल के एक छोटे से, कालड़ी नामक गाँव के ब्राह्मणकुल हुआ था। इनके पिता श्री शिवगुरू और माता श्रीमती आर्याम्बा थी तथा इनकी जन्म से ही आध्यात्मिक क्षेत्र में रुचि रही थी; जिसके चलते, इन्हें सांसारिक जीवन से कोई मोह नहीं था। आदिशंकराचार्य को गीता, उपन्यास, उपनिषद्, वेदों और शास्त्रों का गुरु परम्पराप्राप्त ज्ञान था; जिसे उन्होंने पूरे विश्व में फैलाया।

---

1. पा.यो.सू. 3/29
2. पा.यो.सू. 2/29

शंकराचार्यजी के जन्म की एक छोटी सी कथा है; जिसके अनुसार, उनके माता-पिता बहुत समय तक नि:संतान थे। कड़ी तपस्या के बाद माता आर्याम्बा को स्वप्न मे भगवान् शिव ने दर्शन दिये और कहा कि उनके पहले पुत्र के रूप मे वह स्वयं अवतरित होंगे। परन्तु उनकी आयु बहुत ही कम होगी और शीघ्र ही वे देवलोकगमन कर लेंगे। शंकराचार्यजी जन्म से बिल्कुल विलक्षण थे। आप स्वभाव में शांत और गंभीर थे। जो कुछ भी सुनते थे या पढ़ते थे, एक बार में समझ कर याद कर लेते थे।

बाल्यकाल- शंकराचार्य जी ने स्थानीय गुरुकुल से सभी वेदों, वेदांगो, उपनिषदों और दर्शनों का ज्ञान प्राप्त किया था। आदिशंकराचार्य जी ने केवल बारह वर्ष की आयु मे सभी शास्त्रों, वेदादि सभी ग्रन्थों को कंठस्थ कर लिया था। बाल्यकाल से ही शंकर शुद्ध चित्त एवं दृढ़निश्चय बालक थे। जगज्जननी माँ राजेश्वरी के आशीर्वाद से ही उन्होंने मात्र 16 वर्ष की आयु में ही गीता, उपनिषद् और ब्रह्मसूत्र आदि का भाष्य किया था। जब बालक शंकर 4 वर्ष के थे, तब उनके पिता का देहांत हो गया। उनकी माता आर्याम्बा ने बड़ी कुशलतापूर्वक पुत्र का लालन-पालन किया।

संन्यास- बाल्यकाल से ही शंकर अंतर्मुखी थे, उनके मन में संन्यास लेने की तीव्र इच्छा थी। संन्यास के लिए माँ को कई बार बोला, लेकिन माता ने ममतावश उन्हें ये अनुमति नहीं दी। तभी एक दिन शंकर अपनी माताजी के साथ पूर्णा नदी में स्नान करने गये। जैसे ही शंकर नदी में थोड़ा अंदर गये, तो उनका पैर मगरमच्छ ने पकड़ लिया। माता यह दृश्य देखकर घबरा गई व मदद के लिये पुकारने लगी। कोई सहायता के लिये नहीं आया। उचित अवसर जानकर शंकर ने माता से संन्यासी के रूप में मरने की इच्छा व्यक्त की और कहा कि इस काल में यदि वे संन्यास की अनुमति दे देंगी, तो वह जीवन रहते तो संन्यासी न बन सका कम-से-कम मरते हुये संन्यासी मरना चाहता है। माता ने तुरन्त आज्ञा दे दी। उसी समय शंकर ने आतुर-संन्यास ग्रहण कर लिया।

जैसे ही बालक शंकर ने संन्यास लिया मगरमच्छ स्वत: ही पानी में चला गया व बालक शंकर सकुशल लौट आये।

गुरु की खोज में- बालक शंकर सच्चे गुरु की खोज में उत्तर भारत की ओर निकल पड़े नर्मदा के तट पर गोविन्दवन में उन्हें एक संन्यासी दिखाई दिए उन्होंने संन्यासी को साष्टांग प्रणाम किया और संन्यास लेने की इच्छा जताई। संन्यासी ने शंकर से प्रश्न किया कि तुम कौन हो? शंकर ने भक्ति भाव में उत्तर दिया कि न मैं आकाश हूँ, न मैं अग्नि हूँ, न मैं जल हूँ, न मैं पृथ्वी हूँ। गुरु उनके यह वचन सुनकर अति प्रसन्न हुए और विधिवत् वे संन्यास देने के लिए राजी हो गए। गुरु के पूछने पर शंकर ने अपने नदी में मगरमच्छ के द्वारा पकड़े जाने पर लिए गए आतुर-संन्यास की कहानी सुनाई। तदुपरांत गुरु ने विधिवत् शंकर को महावाक्य की दीक्षा दी। वे महान् संन्यासी थे- गोविंद भगवद्पाद। स्वामी गोविंद पाद ने शंकर को वेद, उपनिषद्, गीता, दर्शन आदि का विशेष ज्ञान कराया।

अंतिम दर्शन- बालक शंकर ने माता को वचन दिया था कि वे उनके अन्तिम समय में उनके साथ रहेंगे। योगबल से जब उन्हें अपनी माता की अन्तिम घड़ी का पता चला, तो वे तुरंत कालटी पहुँच गये। मृत्यु-शय्या पर पड़ी हुई माता के चरणस्पर्श कर उन्होंने भगवान् हरि से प्रार्थना की। उनकी माता को पर लोक ले जाने के लिये भगवान् के दूत आयें व उनकी आत्मा को सम्मानपूर्वक परमधान ले जाएँ। अपनी माता के दाह-संस्कार के समय शंकराचार्य को कठिन परिस्थितियों का सामना करना पड़ा। कई नम्बूदरी ब्राह्मण उनके इस कार्य की आलोचना करने लगे व पूरे गाँव को शंकराचार्य की मदद न करने को कहने लगे। इससे शंकराचार्य को बड़ी निराशा हुई और दु:खी मन से उन्होंने अकेले ही माता के शरीर को अग्नि को समर्पित करने का निर्णय लिया। परन्तु इसमें भी समस्या आ खड़ी हुई। वे माता का पंचभौतिक शरीर श्मशान भूमि तक ले जाने में अकेले समर्थ न हो सके। ग्रामवासियों ने उन्हें जलाने के लिए अग्नि भी नहीं दी। फलस्वरूप उनकी समस्या और बढ़

गई। यह सब देखकर उन्होंने माता के मृतशरीर को घर के पीछे तक खींचकर ले जाने का कार्य सम्पन्न किया और वहीं योगबल से माता की मृतदेह को अग्नि को समर्पित कर दिया।

मठों की स्थापना– केवल 32 वर्षो के कम समय मे अपने कार्य के माध्यम से समाज और सम्पूर्ण हिन्दू समाज को एकता के अटूट धागे मे पिरोने का अथक प्रयास किया; जिसमें सर्वप्रथम है चार अलग–अलग मठों की स्थापना कर उनको अपने उद्देश्य से अवगत कराया। इसी कारण आपको जगत्गुरु के नाम से जाना जाने लगा। शंकराचार्य ने चार मठों की चारों दिशाओ में स्थापना कर हिन्दू समाज को जागृत करने का काम किया, वे चार मठ इस प्रकार है–

1. **शारदा पीठ/शृङ्गेरी मठ**– इसे वेदान्त ज्ञानमठ भी कहा जाता है। यह कर्णाटक (दक्षिण भारत) में स्थापित तथा इस मठ के प्रथम आचार्य सुरेशाचार्य थे। इस मठ से सम्बन्धित वेद यजुर्वेद है और इसका महावाक्य **अहं ब्रह्मास्मि** है।
2. **गोवर्धन मठ**– यह जगन्नाथपुरी अर्थात् पूर्वी भारत में स्थापित किया गया था। इस मठ के प्रथम आचार्य पद्मपादाचार्य थे। इस मठ से सम्बन्धित वेद ऋग्वेद है और इसका महावाक्य **प्रज्ञानं ब्रह्म** है।
3. **द्वारका मठ**– यह मठ देवभूमि द्वारका अर्थात् पश्चिम भारत में स्थापित किया गया था। इस मठ के प्रथम आचार्य हस्तामलकाचार्य थे। इस मठ से सम्बन्धित वेद सामवेद है और इस महावाक्य **तत्वमसि** है।
4. **ज्योतिष्पीठ**– यह बदरीनाथ अर्थात् उत्तर भारत में स्थापित किया गया था। इस मठ के प्रथम आचार्य त्रोटकाचार्य थे। इस मठ से सम्बन्धित वेद अथर्ववेद है और इसका महावाक्य **अयमात्मा ब्रह्म** है। इस तरह आदिशंकराचार्य जी ने भारतभ्रमण कर इन मठों की स्थापना कर चारों ओर हिन्दु धर्म का प्रचार–प्रसार किया और हिन्दू धर्म को पुनः स्थापित किया।

प्रमुख रचनाएँ- आदिशंकराचार्य जी ने विवेक चूड़ामणि (अद्वैत वेदान्त पर लिखी गई इनकी श्रेष्ठ कृति है), ब्रह्मसूत्रभाष्य, उपनिषद्भाष्य (जिनमें बृहदारण्यक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, केन, कठ आदि दस उपनिषद् प्रसिद्ध हैं), भगवद्गीता-भाष्य, योगसूत्र-व्यासभाष्य-विवरण, सांख्यकारिका-जयमंगलाटीका, भज गोविंदम्, शिवानंदलहरी, सौन्दर्यलहरी, विष्णुसहस्रनाम पर भाष्य, तथा अनेक शास्त्रों, सहित अपने अनेक उपदेशों को लिखित व मौखिक लोगों तक पहुँचाया। आपने अपने जीवन में अनेकों ऐसे कार्यों की शुरूआत की; जो उससे पहले कभी नहीं हुए थे।

अद्वैत वेदान्त- शंकराचार्य ने ब्रह्मसूत्रों, उपनिषदों, तथा गीता पर भाष्य लिखे। ब्रह्मसूत्र पर उनके भाष्य को शारीरक भाष्य कहा जाता है। भारत में जितने भी दर्शनों का विकास हुआ, उनमें सबसे महत्त्वपूर्ण दर्शन वेदान्त ही रहा है। वेदान्त दर्शन का आधार उपनिषदें हैं। वेदान्त का अर्थ है; जिसमें वेदों का निचोड़- अन्तिम सत्य का प्रतिपादन है। पहले 'वेदान्त' शब्द का प्रयोग उपनिषदों के लिये ही किया जाता था, क्योंकि उपनिषद् वेदों के अन्तिम भाग थे। वेदान्तदर्शन का आधार ब्रह्मसूत्र कहा जाता है एवं ब्रह्मसूत्र बादरायण (व्यास) की कृति है। ब्रह्मसूत्र उपनिषदों के विचारों में सरलता व सामंजस्य लाने के लिये लिखे गये थे।

वेदान्त के सम्प्रदाय- वेदान्त के प्रमुख चार सम्प्रदाय हैं- अद्वैतवाद (Non & Dualism), विशिष्टाद्वैतवाद (Qualified Monism), द्वैतवाद (Dualism), द्वैताद्वैत (Dualism Cum Non & Dualism)। अद्वैतवाद के प्रवर्तक शंकराचार्य हैं, विशिष्टाद्वैतवाद के रामानुजाचार्य, द्वैताद्वैत के निम्बार्काचार्य व द्वैतवाद के मध्वाचार्य हैं। वेदान्त में जितने सम्प्रदाय हैं, उनमें सबसे प्रधान शंकराचार्य का अद्वैत दर्शन माना जाता है। आचार्य शंकर की गणना भारत ही नहीं, वरन् विश्व के श्रेष्ठ विचारकों में की जाती है। इसका कारण यह है कि शंकराचार्य में आलोचनात्मक और सृजनात्मक प्रतिभा समान रूप से है। शंकराचार्य ने तर्क और मेधा के बल पर अद्वैत वेदान्त का आलोक चारों दिशाओं में

फैलाया। शंकराचार्य का अद्वैत वेदान्त भारतीय एवं विदेशी- दोनों ही तरफ के विद्वानों के आकर्षण का केन्द्र रहा है।

शंकर का जगत् विचार- जीवन के इतने कम समय में शंकराचार्य ने दर्शन की जो सेवा की है, उसका उदाहरण पूरे विश्व में नहीं मिलता है। शंकर ने जगत् को पूर्णतः सत्य नहीं माना है। शंकराचार्य के मतानुसार ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है और सब मिथ्या है। उन्होंने जगत् को प्रपंच की संज्ञा दी है। **ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या, जीवो ब्रह्मैव नापरः** अर्थात् ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है; और जगत् मिथ्या है; सच नहीं है। उन्होंने जगत् विचार को ठीक प्रकार से समझने के लिये विविध सत्ताओं का वर्णन किया है।

माया- माया और अविद्या को शंकराचार्य ने एक ही माना है। शंकर के मतानुसार माया ईश्वर में निवास करती है। जिस प्रकार जादू जादूगर के अन्दर रहता है, परन्तु वह जादूगर उससे प्रभावित नहीं होता; उसी प्रकार माया से ईश्वर प्रभावित नहीं होता। माया ईश्वर की शक्ति है; जिससे वह संसार का निर्माण करता है। शंकराचार्य के विचार सांख्य दर्शन से मेल खाते हैं, वहाँ भी माया को भौतिक व अचेतन कहा गया है और शंकर ने भी यही कहा है। शंकर ने अपने अद्वैत वेदान्त की व्याख्या में एक ही तत्त्व का अस्तित्व स्वीकार किया है और वह ब्रह्म है। ब्रह्म पारमार्थिक, व्यवहारिक एवं प्रातिभासिक दृष्टिकोण से पूर्णतः सत्य है। शंकर ने ब्रह्म को निर्गुण, पूर्ण सत्य, सर्वोच्च ज्ञान का आधार, अनन्त, सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान्, जगत् का आधार माना है। ईश्वर सम्बन्धी विचार में शंकराचार्य ने ब्रह्म को निराकार व निर्गुण कहा है और जब हम उसे जानने का प्रयास करते हैं, तब वह ईश्वर हो जाता है। शंकर ने ईश्वर को सविशेष ब्रह्म कहा है। ईश्वर जगत् का स्रष्टा, पालनकर्ता और संहारकर्ता है। वह नित्य और अपरिवर्तनशील है। ईश्वर को सविशेष ब्रह्म एवं मायोपहित ब्रह्म की संज्ञा दी गई है।

आत्म विचार- शंकराचार्य के अनुसार आत्मा और ब्रह्म एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। उनकी आत्मा स्वयंसिद्ध है। आत्मा सभी

अवस्थाओं में विद्यमान रहती है। आत्मा का मूल तत्त्व चैतन्य अर्थात् चेतनता है। आत्मा नित्य, शुद्ध और निराकार है। आत्मा एक है, परन्तु वह अज्ञान के फलस्वरूप अनेक दिखाई पड़ती है। वह पाप व पुण्य से अलग है। आत्मा देश, काल, नियम से परे है।

जीव विचार- व्यावहारिक सत्ता के आधार पर शंकराचार्य ने जीव को सत्य कहा है। जब आत्मा शरीर, इन्द्रिय, मन आदि से बँध जाती है, तो वह जीव कहलाती है। व्यक्ति विशेष के अलग-अलग होने से जीव भी अलग-अलग होते हैं। जीव आभासमात्र है। शंकर ने जीव को बन्धनग्रस्त कहा है; क्योंकि वह कर्ता है। आचार्य शंकर ने बन्धन मुक्ति के लिये ज्ञान पर बल दिया है।

बन्धन और मोक्ष विचार- शंकराचार्य के अनुसार जब अज्ञानवश आत्मा शरीर, इन्द्रियों से बंध जाती है, तब वह स्वयं को कर्ता मानने लगती है। फलस्वरूप वह संस्कारों में बँध कर फल भोगती रहती है। अविद्या का नाश होने पर ही मोक्ष प्राप्त होता है। वेदान्त में साधन-चतुष्टय को (नित्यानित्य वस्तु, विवेक, वैराग्य, शम, दम, श्रद्धा तथा मोक्ष की तीव्र इच्छा से) अविद्या को दूर करने का उपाय बताया गया है।

महासमाधि- अपनी दिग्विजय यात्राओं के दौरान आचार्य शंकर ने अनेक मतों के विद्वानों को अपनी तीव्र मेधा एवं प्रज्ञा से अद्वैत वेदान्त को मानने पर विवश किया। अंततः पूरा देश शंकरमय हो गया। अभिनव गुप्त ने गोहाटी में पधारे शंकराचार्य पर उनको मारने के लिए तान्त्रिक प्रयोग किया। इससे शंकराचार्य अर्श रोग से पीड़ित हो गये। परन्तु पद्मपाद, जो कि आचार्य शंकर के श्रेष्ठ शिष्यों में एक थे, इस विद्या का उन्मूलन करना जानते थे। उन्होंने अपने गुरु को इस रोग से मुक्त कर दिया। इसके पश्चात् शंकराचार्य हिमालय यात्रा पर चले गये। उन्होंने हिमालय क्षेत्र में जोशीमठ तथा बदरीनाथ मंदिर की स्थापना की। यहाँ से वे उच्च पर्वतीय मालाओं की ओर चले गये और इसी क्रम में वे केदारनाथ पहुँच गये। वहीं पर 820 ई. में जगदगुरु शंकराचार्य जब मात्र 32 वर्ष के थे, वे ब्रह्म में विलीन हो गये।

निष्कर्ष

सनातन धर्म के पुनरुद्धारक आदिगुरु शंकराचार्य का अवतरण ऐसे समय में हुआ था, जब धार्मिक दुराचरण का बोलबाला था। बौद्ध तथा हिन्दू धर्म के मठ-मन्दिर-विहार व्यभिचार का केन्द्र बन गये थे। नैतिकता तथा सदाचार धार्मिक केन्द्रों से दूर होने लगा था। मांसाहार, पशु बलि, मानव बलि, अन्धविश्वास जैसी कुरीतियाँ धर्म को भ्रष्ट कर रही थीं। सामान्य मनुष्य धर्म के सच्चे रूप से अनभिज्ञ होकर ढोंगियों और पाखण्डियों के भ्रम में पड़ा हुआ था। ऐसे समय में एक महान धर्मगुरु की आवश्यकता थी; जो लोगों को धर्म का सही रूप बता सके। आदिगुरु शंकराचार्य इन सब उम्मीदों पर खरे उतरे और उन्होंने समाज कल्याण के लिए वेदांत दर्शन हमें दिया और देश की चारों दिशाओं में चार मठों की स्थापना कर उन्होंने हिंदू जाति को जागृत करने और ब्रह्म, ईश्वर, आत्मा, जगत, बंधन, माया अविद्या आदि के बारे में ज्ञान देकर देश को एक सही दिशा दी तथा हिंदू धर्म की विशुद्ध मान्यताओं को पुनः स्थापित किया। युगों-युगों तक इस महान् कार्य के लिए आदिगुरु शंकराचार्य को याद किया जाएगा।

गुरु गोरखनाथ

गुरु गोरखनाथ का जीवन परिचय- गुरु गोरखनाथ की जीवन कथा नाथ-योगियों में सबसे अधिक प्रसिद्ध है। ये मध्ययुग के प्रसिद्ध योगी थे। इनका समय 9वीं और 11वीं शताब्दी है। कुछ विद्वानों का मत है कि इनका समय 10वीं से 12वीं शताब्दी के मध्य रहा है। ये भगवान् शिव के उपासक थे। उनके समय में सारा देश वेदानुयायी और वेद-विरोधी इन दो भागों में विभक्त था। गोरखनाथ ने अपने मार्ग के समीप वाले शैवों और शाक्तों को अपने में मिला लिया और वे सभी गोरखनाथी कहलाये। धीरे-धीरे गोरखनाथी संप्रदाय में उस समय के अधिक से अधिक संप्रदाय आ गए।

जिस समय गोरखनाथ का आविर्भाव हुआ, उस समय भारतीय धर्म व्यवस्था निम्नतम सीमा तक पहुँच चुकी थी। उन्होंने फिर से उसमें

नवीन प्राणों का संचार किया। शंकराचार्य के बाद गोरखनाथ निःसंदेह ऐसे महापुरुष थे; जिन्होंने शक्तिशाली योग की नींव डाली। इन्होंने योगमार्ग की परंपरा चलायी।

जन्म- गुरु गोरखनाथ एक योगसिद्ध योगी थे। इन्होंने हठयोग परंपरा का प्रारंभ किया। इनको भगवान् शिव का अवतार माना जाता है। गोरखनाथ को गुरु मत्स्येन्द्रनाथ का मानस पुत्र भी कहा जाता है। मान्यता के अनुसार एक बार गुरु मत्स्येन्द्रनाथ भिक्षा माँगने एक गाँव गए। एक घर में भिक्षा देते हुए स्त्री बड़ी उदास दिखाई दी, तो गुरु ने पूछा क्या समस्या है ? स्त्री बोली-मेरी कोई संतान नहीं है। उस स्त्री को परेशान देख गुरु मत्स्येन्द्रनाथ ने उसको मंत्र पढ़कर एक चुटकी भभूत दी और कहा कि आपको एक महान् तेजस्वी पुत्र होगा जिसकी ख्याति चारों और फैलेगी यह आशीर्वाद देकर गुरु मत्स्येन्द्रनाथ अपने भ्रमण क्रम में आगे बढ़ गए। बारह वर्ष बीतने के बाद गुरु मत्स्येन्द्रनाथ उसी ग्राम में पुनः आए कुछ भी नहीं बदला था। गाँव वैसा ही था। गुरु का भिक्षाटन का क्रम अब भी जारी था। जिस गृहस्वामिनी को अपनी पिछली यात्रा में गुरु ने आशीर्वाद दिया था, उसके घर के पास आने पर गुरु को बालक का स्मरण हो आया। उन्होंने घर में आवाज़ लगाई। वही गृहस्वामिनी पुनः भिक्षा देने के लिए प्रस्तुत हुई। गुरु ने बालक के विषय में पूछा। गृहस्वामिनी कुछ देर तो चुप रही, परंतु सच बताने के अलावा उपाय न था। उसने तनिक लज्जा, थोड़े संकोच के साथ सब कुछ सच सच बतला दिया। उसने कहा कि आप से भभूत लेने के बाद पास-पड़ोस की स्त्रियों ने राह चलते ऐसे किसी साधु पर विश्वास करने के लिए उसकी खूब खिल्ली उड़ाई। उनकी बातों में आकर मैंने उस भभूत को पास के गोबर से भरे गड्ढे में फेंक दिया था। गुरु मत्स्येन्द्रनाथ तो सिद्ध महात्मा थे, उन्होंने अपने ध्यानबल देखा और वे तुरंत ही गोबर के गड्ढे के पास गए और उन्होंने बालक को पुकारा। उनके बुलावे पर एक बारह वर्ष का सुन्दर नाक नक्श, उच्च ललाट एवं आकर्षण की प्रतिमूर्ति स्वस्थ बच्चा गुरु के सामने आ खड़ा हुआ। गुरु मत्स्येन्द्रनाथ बच्चे को

लेकर चले गए। यही बच्चा आगे चलकर गुरु गोरखनाथ के नाम से प्रसिद्ध हुआ। गोरखनाथ के गुरु मत्स्येन्द्रनाथ (मछंदरनाथ) थे। नाथ-संप्रदाय में आदिनाथ और दत्तात्रेय के बाद सबसे महत्त्वपूर्ण नाम गुरु मत्स्येंद्र नाथ का है, जो मीननाथ और मछन्दरनाथ के नाम से लोकप्रिय हुए। कौल-ज्ञान-निर्णय के अनुसार मत्स्येंद्रनाथ ही कौलमार्ग के प्रथम प्रवर्तक थे। कौल का अर्थ है-शक्ति और अकुल का अर्थ शिव। मत्स्येन्द्र के गुरु दत्तात्रेय थे।

जन्म स्थान- मत्स्येन्द्रनाथ की समाधि उज्जैन के गढ़कालिका के पास स्थित है। हालांकि कुछ लोग मानते हैं कि मछिंद्रनाथ की समाधि मछीन्द्रगढ़ में है; जो महाराष्ट्र के जिला सावरगाव के ग्राम मायंबा गांव के निकट है। कहते हैं कि गोरखनाथ का समाधि-स्थल गोरखपुर में है। यहाँ दुनियाभर के नाथ-संप्रदाय और गोरखनाथजी के भक्त उनकी समाधि पर माथा टेकने आते हैं। इस समाधिमंदिर के ही महंत अर्थात् प्रमुख साधु है- महंत् आदित्यनाथ योगी।

नाथ-परम्परा- महायोगी गोरक्षनाथ नाथ-सम्प्रदाय के प्रसिद्ध एवं सिद्ध योगी पुरुष हुये। नाथ-सम्प्रदाय का उद्भव स्वयं आदिदेव भगवान् शिव के द्वारा माना जाता है। इस सम्प्रदाय में नौ नाथ हुये। इन नौ नाथों में योगी गोरखनाथ प्रसिद्ध हुये। इन्ही योगी गोरक्षनाथ ने उस समय एक अलग योगविद्या को प्रचारित किया; जिस समय मानव समाज को एक निश्चित् दिशा की अत्यन्त आवश्यकता थी। योगी ने तंत्रशास्त्र में बिखरे हुये योग की ऐसी विधाओं को चुनकर अलग किया, जो तात्कालिक मानव मन व शरीर के लिये हितकारी थी। यह विशिष्ट विधा हठयोग कहलाई।

नाथ-सम्प्रदाय प्रारम्भ के पूर्व बौद्ध सम्प्रदाय का प्रचार-प्रसार पूर्वी देशों चीन, जापान, श्रीलंका आदि में ज़ोरों पर था। परन्तु बुद्ध के शरीर त्यागने के पश्चात् यह उच्च कोटि का दर्शन कई छोटे-छोटे समूहों में बँट गया और उनकी धारणायें भी उसी अनुरूप अलग-अलग हो गईं; जिस कारण से धर्म में आडम्बर व कर्मकांड प्रमुख होने लगा, तो

जनमानस के चित्त को शांति प्रदान करने के लिये करुणावश आदिनाथ से उत्पन्न नाथ सम्प्रदाय का प्रादुर्भाव हुआ। नाथ-सम्प्रदाय के योगियों ने क्रियाओं का सही अर्थ समाज के सामने रखा व इसके आडम्बरपूर्ण हिस्से को अलग कर दिया। इस सम्प्रदाय के प्रणेता स्वयं आदिनाथ भगवान् शिव हैं। इन्होने अपने शिष्य मत्स्येन्द्रनाथ को यह ज्ञान दिया व मत्स्येन्द्रनाथ से गोरक्षनाथ को गुरु-शिष्य-परम्परा के अनुसार तत्त्वज्ञान की दीक्षा दी गई। प्रथम आदिनाथ को विक्रमी संवत 8 के आस-पास अवतीर्ण हुआ माना जाता है। नौ नाथों में गोरक्षनाथ का नाम सबसे अधिक प्रसिद्ध व प्रमुखता से लिया जाता है। इन्होने ही तंत्र में बिखरे हुये गूढ़ ज्ञान को सरल एवं सुलभ बनाया व उसके सही अर्थों का प्रचार-प्रसार किया। हठयोग के माध्यम से प्राणों का शुद्धिकरण कर आत्मतत्त्व तक पहुँचने की विधा इन्होने ही बताई।

नाथ सम्प्रदाय की कर्म भूमि- नाथ सम्प्रदाय की मुख्य कर्म भूमि उत्तर प्रदेश स्थित गोरखपुर बताई जाती है। गोरखनाथ जी का मंदिर आज भी यहाँ लोगों की श्रद्धा का केन्द्र बिन्दु है। यहाँ आज भी नाथपंथी कनफटे योगी साधु रहते हैं। नेपाल के निवासी गोरक्षनाथ को पशुपतिनाथ जी का अवतार मानते हैं। नेपाल में भोगमती, भातगाँव, गृगस्थली, चौधरी, स्वारीकोट, पिडठार आदि स्थानों में नाथ सम्प्रदाय के योगाश्रम हैं। राज्य के सिक्कों पर श्री गोरखनाथ अंकित हैं। गोरखनाथी सम्प्रदाय के लोगों का सम्बन्ध कापालिकों से अति निकट का माना जाता है। गोरखनाथ का नाम सर्वप्रथम मराठा भक्त ज्ञानेश्वर रचित अमृतानुभव (ई. 1290) में उद्धृत है। अतः नाथ सम्प्रदाय का उद्‌भव इस आधार पर 13 वीं शताब्दी माना जाता है।

नाथ का शाब्दिक अर्थ

'नाथ' शब्द की उत्पत्ति 'नाथृ' धातु में 'अ' प्रत्यय लगाने से होती है। सिद्ध सिद्धांत पद्धति में 'नाथृ' का धातु मुख्यता चार अर्थों में प्रयुक्त होता है- याक, उपतापक, ईश्वर और आशीर्वाददाता। 'नाथ' शब्द का अर्थ गोरक्षसिद्धांत संग्रह के पृष्ठ 26 के अनुसार **'नकारो नादरूपं**

थकारः स्थाप्यते सदा। भुवनत्रयमेवैकः श्रीगोरक्ष नमोऽस्तु ते'॥[1] अर्थात् 'ना' शब्द का अर्थ है- अनादि रूप और 'थ' का अर्थ है- भुवनत्रय का स्थापित होना। अतः नाथ का अर्थ है- वह अनादि धर्म; जो भुवनत्रय की स्थिति का कारण है। इसी प्रकार गोरक्ष सिद्धांत संग्रह के पृ. 26 शक्ति संगम तंत्र में 'ना' शब्द का अर्थ नाथ ब्रह्म है। **'श्री मोक्षदानदक्षत्वान्नाथ (द) ब्रह्मानुबोधनात्। स्थागिताज्ञानविभवाच्चादि नाथेति गीयते'॥**[2] अर्थात् जो मोक्ष का दान देने में दक्ष है और उसका ज्ञान कराता है। एवं 'थ' का अर्थ है अज्ञान के सामर्थ्य को स्थगित करने वाला। चूंकि नाथ के आश्रयगण से इस नाथ ब्रह्म का साक्षात्कार होता है और अज्ञान की माया अवरुद्ध होती है। इसलिये 'नाथ' शब्द का व्यवहार किया जाता है। 'नाथ' शब्द का अर्थ शिव जी का प्रतीक है, परन्तु यह अकेला नहीं है अर्थात् यह शक्ति युक्त शब्द है। ना शब्द पुरुषवाची है और थ का अर्थ है- शक्ति। 'ना' पुराण पुरुष शिव है और उनकी अन्तरंग शक्ति का नाम 'थ' है। तंत्र शास्त्र में कहा गया है; **नकारः शिव इत्युक्तः थकारः शक्तिरुच्यते।** गोरक्षनाथ ने ही नाथयोग की परंपरा शुरू की और आज हम जितने भी आसन, प्राणायाम, षट्कर्म, मुद्रा, नादानुसंधान या कुण्डलिनी आदि योग साधनाओं की बात करते हैं;, सब इन्हीं की देन है।

गोरखनाथ की रचनाएं- गोरखनाथ के नाम पर हिंदी में 40 के ऊपर और संस्कृत में 28 के लगभग रचनाएं हुई हैं। इनमें बहुत से ग्रन्थों का परिचय आज सुलभ है; जिसमें से कुछ इस प्रकार है- हठयोगप्रदीपिका, गोरक्षशतक, ज्ञानामृत, गोरक्षकल्प, गोरक्षसहस्त्रनाम इनके सर्वसुलभ ग्रन्थ हैं। काशी नागरी प्रचारिणी सभा की खोज में चतुरशीत्यासन, योग चिन्तामणि, योग महिमा, योग मार्तण्ड, योग सिद्धान्त पद्धति, विवेकमार्तण्ड और सिद्ध-सिद्धान्त पद्धति आदि संस्कृत ग्रन्थ और मिले हैं। गोरखबोध, गोरखसंवाद, गोरखनाथजंजीरा पद, गोरखनाथनी के स्फुट ग्रन्थ ज्ञान

---

1. गो.सि.सं.पृ.26
2. गोरक्ष सिद्धांत संग्रह

सिद्धान्त योग, ज्ञानतिलक, योगेश्वरीसाखी, नरवैबोध, विराट पुराण, गोरखसार, सबदी, प्राणसंकली, मछिन्द्र गोरखबोध, गोरखसत, निरंजनपुराण आदि हिंदी में प्रसिद्ध है। गोरखनाथ की रचनाओं के आधार पर नाथपंथ की साधना प्रणाली पर काफी प्रकाश पड़ता है।

योगसाधनाएँ

योगी गोरक्षनाथ ने मुख्य रूप से हठयोग की साधना का ही प्रचार-प्रसार किया। हठयोग राजयोग को प्राप्त करने का साधन भी है और दोनों एक दूसरे के अभिन्न अंग भी हैं। गोरक्षनाथ ने हठयोग से मन के संयम की बात कही है व मनःसंयम को मोक्ष का द्वार बताया है।[1] गोरक्षनाथ ने अपनी साधनाओं में प्राण को मुख्य स्थान दिया है। योग ग्रन्थों के अनुसार प्राण साधना द्वारा मन का नियंत्रण सम्भव है, ऐसा वर्णन मिलता है। हमारे शरीर में असंख्य नाड़ियाँ हैं एवं इन नाड़ियों का उद्भव स्थल मूलकन्द माना गया है। योगी गोरक्षनाथ ने इस मूलकन्द से 72000 (बहत्तर हजार) नाड़ियों का उद्भव स्थल माना है।

ऊर्ध्वं मेढ्रादधोनाभेः कन्दयोनिः खगाण्डवत्।
तत्र नाड्या समुत्पन्नाः सहस्त्राणां द्विसप्ततिः॥[2]

योगी गोरक्षनाथ की साधनाओं में कुण्डलिनी साधना का प्रमुख स्थान है एवं नाड़ियों में प्रमुख नाड़ी सुषुम्ना से ही कुण्डलिनी एवं प्राण ऊर्ध्वमुख होकर सहस्रार में जाकर विश्रान्ति को प्राप्त होते हैं। गुरु गोरक्षनाथ के अनुसार, व्यष्टिपिण्ड ब्रह्माण्ड का ही छोटा रूप है। मनुष्य के किस अंग में ब्रह्माण्ड का कौन-सा अंश है, इसका वर्णन गोरक्षनाथ कृत सिद्धसिद्धान्त संग्रह में प्राप्त होता है। योगी ध्यान एवं चिन्तन के गहन अभ्यास से समस्त ब्रह्माण्ड को अपने भीतर अनुभव कर उससे स्वयं को मिलाकर एकाकार कर सकता है। ब्रह्माण्ड में व्याप्त समस्त रहस्यों के उत्तर उसे इससे प्राप्त हो सकतें हैं। गुरु गोरक्षनाथ ने छः अंगो

---

1. गोरक्ष संहिता 1/4
2. गोरक्षशतक 25

की साधना का वर्णन किया है एवं इसे षडंगयोग कहा जाता है। **'आसनं प्राणं संरोधः प्रत्याहाराश्च धारणा। ध्यानं समाधिरेतानि योगाङ्गानि वदन्ति षट्'॥**[1] पिण्ड में अखण्ड ब्रह्माण्ड की सहज अभिव्यक्ति के माध्यम से परमात्म-तत्त्व का पूर्ण ज्ञान व अनुभव सम्भव है। पिण्ड एवं ब्रह्माण्ड की समरसता ही नाथयोगी सम्प्रदाय के साधना का मुख्य लक्ष्य है। इसी उपलब्धि हेतु गोरक्षनाथ जी कहते हैं **: परपिण्डादिस्वपिण्डान्तं ज्ञात्वा परमदे समरसं कुर्यात्।**[2] गुरु गोरक्षनाथ इस सामरस्य में गुरु की कृपा को अत्यन्त आवश्यक मानते हैं। गुरु के द्वारा आसन प्राणायाम, षट्चक्र भेदन एवं षट्कर्म आदि का विधिपूर्वक अभ्यास कर योगी समरस को प्राप्त करता है। कुण्डलिनी साधना के सम्बन्ध में योगी गोरक्षनाथ ने अनेक स्थानों पर बहुत ही गूढ़ ज्ञान को बताया है। वस्तुतः हठयोग की साधना का मुख्य लक्ष्य गुरू गोरक्षनाथ ने कुण्डलिनी जागरण ही बताया है। गोरक्षनाथजी ने सर्वप्रथम शरीर की शुद्धि कर मन की शुद्धि के द्वारा चित्त को एकाग्रकर समाधि की अवस्था को प्राप्त करने को कहा है।

श्री अरविन्द

श्री अरविन्द की आरम्भिक जीवन एवं शिक्षा- श्री अरविन्द का जन्म 15 अगस्त 1872 को कलकत्ता में हुआ। उनके के पिता डॉ. कृष्णधन घोष एवं श्रीमती स्वर्ण लता देवी थे, श्री अरविन्द अपने माता पिता के तृतीय पुत्र थे। श्रीकृष्णधन घोष अंग्रेजी शिक्षा और रहन-सहन से बहुत ज्यादा प्रभावित थे; क्योंकि उन्होंने कोलकाता विश्वविद्यालय से चिकित्सा की डिग्री प्राप्त की थी और स्कॉटलैंड के एवरडीन विश्वविद्यालय से एमबीए की डिग्री प्राप्त करने के लिए विदेश यात्रा की थी। वह 1879 में डिग्री लेकर वापस लौटे। इस यात्रा के बाद उनका रहन-सहन पूर्ण रूप से अंग्रेजी हो गया। श्री राजनारायण बोस ने अपने जामाता कृष्णधन घोष को बच्चों की पढ़ाई को लेकर काफी समझाया कि वह

1. गोरक्ष संहिता 1/6
2. सिद्धसिद्धान्त पद्धति 5/2

अपने तीनों बच्चों को दार्जिलिंग के लोरेटो कान्वैण्ट स्कूल में प्रवेश न करायें, पर वह न माने। यह स्कूल भारत में नौकरी करने वाले अंग्रेजी अफसरों के बच्चों की शिक्षा के लिए खोला गया था। उस समय श्री अरविन्द की आयु सिर्फ पाँच वर्ष की थी। इसी उम्र में उनको छात्रावास में रहने के लिए भेज दिया तथा डॉ. कृष्णधन घोष अपनी पत्नी स्वर्णलता एवं 4 बच्चों के साथ सन् 1879 में इँग्लैण्ड गये, विनयभूषण, मनमोहन, अरविन्द एवं सरोजिनी। अपने तीनों पुत्रों एवं पत्नी को एक अंग्रजी पादरी और पत्नी को इस निर्देश के साथ सौंप दिया कि बच्चे किसी भारतीय से कोई परिचय प्राप्त न कर सके और उन पर किसी प्रकार का कोई भारतीय प्रभाव न पड़ने पाये। इस समय अरविन्द की आयु 7 वर्ष थी। इन आदेशों को अक्षरशः पालन हुआ और अरविन्द भारत, उसके निवासियों, उसके धर्म और उसकी संस्कृति से सर्वथा अनभिज्ञ होकर पलते रहे। श्री अरविन्द छोटे होने के कारण छुट्टी के समय घर पर ही रहते। श्रीमती दुएट उन्हें इतिहास, भूगोल, गणित एवं फ्रेंच पढ़ाती थीं। श्री अरविन्द ने प्रारम्भिक शिक्षा के पश्चात् खाली समय में बायावल तथा शैक्सपियर, शैली, कीट्स आदि की कृतियों का अध्ययन किया। श्री अरविन्द इंग्लैण्ड में अरविन्दा एक्रायड घोष के नाम से जाने जाते थे।

उसके बाद अरविन्द लन्दन में सैंट पाल में पढ़ने के लिए भेज दिए गए। प्रधान अध्यापक डॉ. एफ. डब्लू वाकर ने अरविन्द को ग्रीक सिखाने का काम स्वयं सम्भाला और जल्दी-जल्दी ऊँची कक्षाओं में चढ़ा दिया। सन् 1884 से 1889 ई. तक पाँच वर्ष तक वह सैंटपाल में रहे, जहां उन्होंने प्राचीन भाषाओं में काफी योग्यता प्राप्त की और अनेक पुरस्कार पाये। अपना बहुत-सा समय उन्होंने पुस्तकें पढ़ने में बिताया। सन् 1890 में सैंट पाल की अन्तिम परीक्षा में उन्होंने प्राचीन भाषाओं के लिए 80 पौंड का वज़ीफा पाया और इससे वह कैम्ब्रिज के किंग्स कालेज में भर्ती हो सके। आई.सी.एस. की तैयारी के दिनों में भी अस्सी पौंड का वजीफा मिलता रहा।

युवावस्था- कैम्ब्रिज पहुँचने पर इण्डियन मजलिस नामक एक संस्था से उनका सम्पर्क हुआ, मजलिस के कार्यक्रमों में उन्होंने अनेक क्रांतिकारी भाषण भी दिये। कैम्ब्रिज के कुछ अधिक जोशीले भारतीय युवकों ने एक गुप्त संस्था बनायी थी, जिसका नाम द लोटस एण्ड डैगर (कमल और कटार) रखा गया था। श्री अरविन्द इस संस्था में सम्मिलित हो गये। श्री अरविन्द आई.सी.एस. की परीक्षा में दाखिल हुए; जो कि उनके पिता की हार्दिक इच्छा थी। परीक्षा में उन्होंने बिना किसी ट्यूशन के 11वाँ स्थान प्राप्त किया था। 20 नवम्बर 1892 इंडियन सिविल सर्विसेज में 11वाँ स्थान प्राप्त कर उसकी सभी त्रैमासिक परीक्षाओं में उत्तीर्ण हुए। लेकिन घुड़सवारी में पास न होने के कारण नौकरी के योग्य नहीं पाये गये।

स्वदेश आगमन- बड़ौदा के महाराजा सायाजी राव गायकवाड़ इंग्लैण्ड गये थे। वे भारत के राजाओं में सर्वाधिक प्रबुद्ध और प्रतिभा सम्पन्न राजा थे और अपने कर्मचारियों का सावधानी और विवेक से चुनाव करते थे। महाराजा ने श्री अरविन्द का इन्टरव्यू लिया और, परिणामस्वरूप वे बड़ौदा राज्य की सेवा के लिए चुने गए। इस प्रकार भारत आने के पूर्व ही उनकी नियुक्ति हो गयी। चौदह वर्ष तक विदेश में रहकर 1893 में श्री अरविन्द भारत लौट आये और नौकरी करने बड़ौदा पहुँचे। बड़ौदा पहुँचते ही अरविन्द भारतीय भाषाओं, संस्कृति, इतिहास और धर्म के अध्ययन में मग्न हो गये। वह पाश्चात्य परम्परा के प्रकाण्ड थे ही। उन्होंने हिन्दी का भी अध्ययन किया। उन्होंने संस्कृत भाषा के माध्यम से बँगला भाषा ही नहीं सीखी, बल्कि अंग्रजी भाषा के माध्यम से संस्कृत सीखी। इसके बाद उन्होंने वेदों के महत्त्व को अनुभव करना आरम्भ कर दिया था। पारस्परिक पाश्चात्य बौद्धिक परम्परा में रंगे श्री अरविन्द के मन पर भारतीय दर्शन के मूल स्रोत के अध्ययन का गहरा असर पड़ा।

बड़ौदा में तेरह वर्ष काम करने के पश्चात उनको वहाँ के कॉलेज में फ्रांसीसी भाषा का प्रोफेसर बना दिया गया। कॉलेज में भी वे निरन्तर उन्नति करते गये और सन् 1906 में जब राजनैतिक कार्य करने

के लिये उन्होंने कॉलेज को छोड़ा, तब वे वाइस-प्रिंसिपल के पद पर काम कर रहे थे। बड़ौदा रहते हुए भी बंगाल के क्रांतिकारी आन्दोलन के बौद्धिक नेता श्री अरविन्द ही थे। बड़ौदा राज्य की नौकरी से 18 जून 1907 को सेवामुक्त हो गए। इस तरह बड़ौदा में उनका कुल आवास 18 दिन 5 महीने और 13 वर्ष का रहा; जो उनके इंग्लैण्ड प्रवास के लगभग ही था।

गृहस्थ जीवन- श्री अरविन्द का विवाह राँची, बिहार के निवासी श्री भूपालचन्द्र बोस की कन्या मृणालिनी देवी से सन 1907 में हो गया। यद्यपि अपनी पत्नी के साथ श्री अरविन्द का व्यवहार सदैव प्रेम पूर्ण रहा, पर ऐसे असाधारण व्यक्तित्व वाले महापुरुष की सहधर्मिणी होने से उसे सांसारिक दृष्टि से कभी इच्छानुसार सुख की प्राप्ति नहीं हुई। कुछ दिनों बाद इनफ्लुएंजा की महामारी के आक्रमण से उनका देहावसान हो गया। श्री अरविन्द ने प्रारम्भ में ही मृणालिनी को अपने तीन पागलपन के बारे में बताया था : 1. मुझे जो ईश्वर ने दिया है, उसमें से केवल निर्वाह हेतु अपने पास रखकर; बाकि सब दूसरों को देना चाहता हूँ। 2. यदि ईश्वर का अस्तित्व सत्य है, तो मैं ईश्वर का साक्षात्कार करना चाहता हूँ। 3. मैं भारत को अपनी माँ मानता हूँ और उसे पूजना चाहता हूँ। मेरे पास जो कुछ भी है, वह भारत माता का ही है।

राजनैतिक जीवन से अध्यात्मिक जीवन में प्रवेश- अरविन्द की जीवन यात्रा में अब राजनैतिक क्रान्ति की अग्नि प्रज्वलित होने लगी। उनके व्यक्तित्व साहस, कौशल तथा देशप्रेम की भावना से ओतप्रोत था। 30 अप्रैल को एक घोड़ा गाड़ी पर यह समझ कर बम फेंका गया कि उसमें किंग्स फोर्ड बैठे हैं। जबकि मुजफ्फरपुर नगर कल्ब से दो महिलायें अपने घर जा रही थीं। मि. फोर्ड तो बच गये, पर दोनों महिलाओं की मृत्यु हो गई। इस उपद्रव से क्षुब्ध होकर ब्रिटिश सरकार द्वारा 2 मई को कलकत्ता में उन अनेक स्थानों की तलाश करवायी जा रही थी। इन सबमें श्री अरविन्द का कलकत्ता का निवास स्थान सबसे ऊँचा था। 8 मई प्रात: 5 बजे अरविन्द को उसके घर से

गिरफ्तार कर लिया गया; जिसका वर्णन उन्होंने कारा कहानी नामक पत्र में किया था।

श्री अरविन्द के जीवन को भी अलीपुर कारागार के आश्रमवास ने एक नयी दिशा दी। जेल में श्री अरविन्द का योगाभ्यास, दैवी अनुभूतियाँ, आत्मचिन्तन और गीता उपनिषद् पर विचार चलता रहा। वहाँ ध्यानस्थ मुद्रा में उन्हें विवेकानन्द की वाणी भी सुनाई दी। अपने सब अनुभवों का विवरण श्री अरविन्द ने बाद में पांडिचेरी में साधकों के साथ बातचीत करते हुए समय सुनाया था। 14 मई 1909 को उन्होंने देशवासियों के नाम एक पत्र में कृतज्ञता व्यक्त की और लिखा कि जिन लोगों ने प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में मेरे प्रवास के दौरान मेरी मदद की हैं, मैं उनका अभारी हूँ। यदि देश के प्रति मेरे प्रेम ने मुझे खतरे में डाला था, तो देशवासियों के प्रेम ने मुझे उस खतरे से सुरक्षित निकाल लिया है। 30 मई 1909 को श्री अरविन्द में उत्तरपाडा अभिभाषण में एक जनसभा को सम्बोधित किया। उनका यह उत्तरपाड़ा अभिभाषण बहुत प्रसिद्ध है; जिसमें उन्होंने अपने जेल-प्रवास की अनुभूतियों पर चर्चा की। अरविन्द ने एक दिन की घटना को बताते हुए कहा है कि मै आगामी घटनाओं के बारे में अपने मित्रों की जोशपूर्ण टिप्पणियाँ सुन रहा था कि मुझे, ऊपर से मेरे सुपरिचित स्वर में केवल तीन शब्दों में एक आज्ञा मिली, चन्द्रनगर को जाओ। बस कोई 10 मिनट के अन्दर में चन्द्रनगर जाने वाली नाव में सवार था। उसके बाद उसी आज्ञा के अनुसार मैं चन्द्रनगर भी छोड़कर 4 अप्रैल 1910 को पाँडिचेरी जा पहुँचा। पाँडिचेरी पहुँच कर श्री अरविन्द ने राजनीतिक गतिविधियों में भाग लेना छोड़ दिया। वह पुनः भारत आने के उद्देश्य में लग गये थे। उनकी दृष्टि में भारत अब भी अपने गौरवमय अतीत में मानवता के भविष्य की कुँजी लिये हुए था। अतः उन्होंने अपनी शक्ति को राजनीतिक गतिविधियों से हटाकर इस दूसरी दिशा में लगा दिया।

लेखन कार्य- श्री अरविन्द ने पत्रकारिता के क्षेत्र में आश्चर्य-जनक ख्याति प्राप्त की थी। उनका एक-एक लेख ऐसा प्रतीत होता था, जैसे

कि शीघ्र ही ब्रिटिश शासन की नींव भारत से गिरने वाली है। 1886 में लन्दन के स्कूल से ही उन्होंने कविताएँ लिखनी शुरू कर दी थीं। 1950 में उन्होंने 'सावित्री' महाकाव्य ग्रन्थ का प्रकाशन किया। अलीपुर केन्द्रीय जेल के अनुभव पर 'कारा कहानी' नामक लेख बँगाली भाषा में लिखा; जहाँ पर वे 1908-1909 तक बन्दी रहे थे। वे अक्सर अपने लेख बंगाली और अंग्रेजी में ही लिखते थे। 1905 में उन्होंने बंगाल में **वन्दे मातरम्** पत्र का सम्पादन भी किया। वीरेन्द्र कुमार घोष द्वारा प्रकाशित बँगाल के प्रसिद्ध क्रांतिकारी साप्ताहिक युगान्तर में भी अरविन्द के पत्र छपते थे। 1909 अरविन्द ने साप्ताहिक पत्रिका **कर्मयोगिनी** का पहला अंक प्रारम्भ किया और साप्ताहिक पत्रिका **धर्मः** जो की बंगाली में भी प्रारम्भ की थी। अरविन्द ने 1906-1910 तक 5 वर्ष तक सम्पादन कार्य किया। श्री अरविन्द ने पत्रकारिता को एक नया दृष्टिकोण प्रदान किया। यत्र तत्र वह विभिन्न पत्रिकाओं में बिना अपना नाम दिये हुऐ सम्पादकीय देते रहे। इनकी पत्रकारिता का लोहा अंग्रेजी सरकार के पत्र और प्रशासन भी मानने लगे।

प्रमुख ग्रन्थ- अरविन्द द्वारा लिखित प्रमुख ग्रन्थों के नाम हैं- दिव्य जीवन, योग के आधार, मानव एकता का आदर्श, मानव विकास चक्र, भावी कविता दिसम्बर, द सैसांज इन इण्डिया, इज इण्डिया सिविलाइज्ड, योगसमन्वय, वेदरहस्य, गीताप्रबन्धन, केन उपनिषद, ईषोपनिषद्, भारतीय संस्कृति की तर्क बुद्धि परक समीक्षा आदि।

साधक के रूप में-

फरवरी 1893 में श्री अरविन्द भारत वापस आए, भारत भूमि पर कदम रखते ही श्री अरविन्द ने महसूस किया कि उनको एक गंभीर शांति प्राप्त हुई है। वह शांति उनको चहुँ दिशाओं से लपेट रही है। स्वयं उनके द्वारा एक चर्चा में कहा गया कि भारत लौटने के उपरांत मेरा जीवन एवं योग दोनों ही लौकिक तथा पारलौकिक रहे हैं। भारतीय बंदरगाह पर कदम रखने के साथ ही मुझे आध्यात्मिक अनुभूतियों का आभास हुआ। श्री अरविन्द को भारत पहुंचने पर आध्यात्मिक अनुभूति

होनी आरम्भ हुई, शांति के अंदर अवतरण के साथ एक अन्य अनुभूति भी उन्हें महसूस हुई। दार्जिलिंग स्कूल में जिस तमस ने उनको घेरा था जो संपूर्ण इंग्लैंड में रहने के दौरान उनमें उपस्थित था वह शांति के आवागमन के साथ शरीर से बाहर हो गया। श्री अरविन्द को बड़ौदा में अनुभव हुआ आत्माओं को जगत में बुलाकर उनके साथ संपर्क किया जा सकता है। अनन्तर अनन्त ब्रह्म से साक्षात्कार की अनुभूति उनके जीवन में अनायास ही हुई।

साधना के पश्चात हुई अनुभूतियों ने श्री अरविन्द को योग के आयाम को गहराई से जानने के लिए प्रेरणा दी। परिणामत: श्री अरविन्द की योग में रुचि जागृत हुई उनकी इच्छा संसार का त्याग करके योग मार्ग अपनाने की बिल्कुल नहीं थी। उस समय तो उनका लक्ष्य भारत स्वतंत्रता का था। इस बड़े कार्य की पूर्णता के लिए उन्हें आध्यात्मिक शक्तियों की जरूरत महसूस हुई। श्री अरविन्द विधि पूर्वक योग साधना आरंभ करने के लिए कृतसंकल्प हुए। उस समय प्राणायाम विशेष योग साधना पद्धति के लिए जाना जाता था। इसीलिए श्री अरविन्द द्वारा प्राणायाम के अभ्यास से योग साधना का प्रारम्भ किया गया। फलत: उनमें अथक परिश्रम करने की शक्ति उत्पन्न हुई। पहले अधिक कार्य करने पर थकान होती थी परंतु प्राणायाम के अभ्यास से शरीर स्वस्थता को प्राप्त हुआ।

मौन साधना:-

श्री अरविन्द 30 दिसंबर 1960 में बड़ौदा पधारे यहीं पर उनकी भेंट महाराष्ट्र के सिद्ध योगी श्री विष्णु भास्कर लेले से होती है। गिरनार पर्वत शृंखला पर उन्होंने कठोर साधना की थी। फलत: भगवान दत्तात्रेय की साधना के समय उन्हें भगवान दत्तात्रेय के बाल स्वरूप का दर्शन प्राप्त हुआ। तथा उनकी कृपा से योग विद्या की प्राप्ति होती है। बड़ौदा स्थित खाशीराम यादव के निवास पर श्री अरविन्द की भेंट योगी लेले से हुई। दोनों ने परस्पर लगभग आधे घंटे तक बातचीत की तथा श्री अरविन्द को उन्होंने बताया साधना में निश्चित परिणाम प्राप्ति हेतू

राजनीतिक प्रवृत्तियों का त्याग करना पड़ेगा तदुपरांत श्री अरविन्द द्वारा कुछ दिनों के लिए राजनीतिक प्रवृत्ति त्यागी गई फलतः उनकी साधना नए आयामों की ओर बढ़ी।

साधना की उच्च अवस्था:-

जब श्री अरविन्द साधना की उच्च अवस्था में चौबीसों घंटे ध्यानमग्न रहते तो समस्त कार्य अन्तर्यामी के आदेशानुसार होने लगे। श्री अरविन्द द्वारा अपने इस बदलाव के बारे में मृणालिनी को एक पत्र के माध्यम से बताया था कि तुमसे मिलने के लिए 4 जनवरी का दिन निश्चित किया था परन्तु आ नहीं सका यह मेरी स्वयं की इच्छा से नहीं हुआ। परमेश्वर जहां मुझे ले जाना चाहते हैं वहां मुझे पहुंचना पड़ता है। उस समय में अपने काम नहीं अपितु भगवान के कार्य हेतु गया था। मेरी मनोदशा एकदम बदली है अभी तो इतना ही कहता हूं ।मैं मेरा स्वामी नहीं हूं। अपितु भगवान मुझे जहां पर भी ले जाते हैं मुझे कठपुतली के जैसे जाना पड़ता है। अब मैं बिल्कुल मुक्त अवस्था में नहीं हूँ। उसका आधार मेरे कृतसंकल्प से नहीं अपितु यह समस्त भगवान की आज्ञा से हो रहा है।

श्री माँ का आगमन- पॉल रिशार (फ्रेन्च इण्डिया) की काऊँन्सिल का चुनाव लड़ने के लिए पॉण्डिचेरी आये। उनके साथ उनकी पत्नी थी। स्टीमर जैसे-जैसे पॉण्डिचेरी की ओर गति कर रहा था वैसे-वैसे मीरा के अन्तर से प्रभु की प्रार्थना और अधिक उत्कट होती जा रही थी। उसके हृदय में आनन्द और परमशान्ति का अनुभव हो रहा था। स्टीमर अब पॉण्डिचेरी से दस समुद्री मील दूर था, तब मीरा को एक हल्के तेजोमय वातावरण का स्पर्श हुआ। इस अनुभव के विषय में श्री माताजी ने बताया था : मैं जब यहाँ पहली बार आयी थी, तब मुझे श्री अरविन्द की साधना का वातावरण का अनुभव स्थूल रूप से दस समुद्री मील दूर से हुआ था। वर्षो से जिसकी प्रतीक्षा थी, वह धन्य पल आ ही गया। जीवन की इस पुण्य घटना के बारे में बताते हुए श्री माँ ने बताया-जैसे ही मैंने श्रीअरविन्द को देखा कि तुरन्त वहीं सुपरिचित व्यक्ति कि

जिसको मैं श्री कृष्ण कहती थी, यही है;, यह मैं पहचान गई। मेरा स्थान और मेरा कार्य उनके साथ भारत में है, इस बात का मुझे विश्वास हो गया। इस प्रसंग में स्वयं श्री माँ ने बताया, मैं उनके चरणों के पास बैठ गई। और काफी समय तक बैठी रही, जब खड़ी हुई तो बिना माँगे ही उन्होंने मेरे मन को धन्य कर दिया।

महाप्रयाण- अरविन्द 5 दिसम्बर 1950 को 1 बजकर 26 मिनट पर वे शरीर छोड़कर अनंत में लीन हो गये। शरीर छोड़ने के बाद भी 111 घण्टों तक अपूर्व स्वर्ण आभामय प्रकाश निकलता रहा। इस प्रकाश को डॉ. प्रभात सान्याल तथा नीरोदबरण ने श्री माँ की कृपा से स्पष्ट अपनी आँखों से देखा था। साधारणत: डॉक्टरों ने तो निर्णय दे दिया था कि रुधिर में विषैला द्रव्य पूर्ण रूप से व्याप्त हो चुका है; जिसके प्रभाव से शरीर का रंग थोड़े समय में ही बदलकर काला पड़ने लगता है तथा विकृति के चिन्ह को देखा जा सकता है। परंतु श्री अरविन्द के देहत्याग के पाँचवे दिन तक (एक सौ ग्यारह घंटे) अतिमानस का प्रकाश घनीभूत होकर उतर रहा था। अंत में 9 दिसम्बर को शाम को पाँच बजे सादगी भरे वातावरण में उनकी देह को समाधि दे दी गयी।

स्वामी विवेकानन्द जीवन परिचय

स्वामी विवेकानन्द का जन्म सोमवार 6 बजकर 49 मिनट पर 12 जनवरी 1863 में हुआ। मकर संक्रांति का वह दिन हिंदू समाज के लिए महोत्सव का दिन था। श्रद्धालु उस दिन लाखों की संख्या में गंगा पूजा करने पहुंच रहे थे। स्वामी विवेकानन्द की माता भुवनेश्वरी देवी ने उनके जन्म से पूर्व वाराणसी में वीरेश्वर भगवान की पुत्र रत्न की प्राप्ति की इच्छा लेकर पूजा की थी। एक रात उन्होंने सपने में महादेव को ध्यान मग्न देखा फिर नेत्र खोलक उनके पुत्र के रूप में जन्म लेने का वचन दिया। नींद टूटने के पश्चात् आनन्द की सीमा असीम थी। माता भुवनेश्वरी देवी ने अपने पुत्र को शिव भगवान का प्रसाद मानकर उसका नाम वीरेश्वर रखा परन्तु परिवारजन उनको नरेन्द्रनाथ दत्त तथा संक्षेप तथा लाड़-दुलार में नरेन कहकर पुकारते थे।

नरेन्द्रनाथ का जन्म जिस वंश में हुआ वह अपनी समृद्धि पांडित्य, सहृदयता एवं स्वाधीन मनोवृति के लिए सुविख्यात था। दादा श्री दुर्गाचरण ने अपने प्रथम पुत्र का चेहना देखने के उपरांत ही ईश्वर प्राप्ति की इच्छा से गृह त्याग किया। उनके पिता श्री विश्वनाथ दत्त कोलकाता उच्च न्यायालय में अधिवक्ता थे। अंग्रेजी तथा फारसी साहित्य पर उनकी अच्छी पकड़ थी। उनका हृदय विशाल था। माता देखने में गंभीर परंतु आचरण में उदार स्वभाव की थी। प्राचीन हिंदू परंपराओं का पालन एवं प्रतिनिधित्व करती थी तथा अपना खाली समय भजन गाने तथा सिलाई में लगाती थीं। रामायण एवं महाभारत के लिए उनकी अत्यधिक रुचि थी तथा उनके अनेक अंशों का उन्होंने कंठस्थीकरण भी किया था।

आरम्भिक शिक्षा-सब जानते हैं कि माँ ही बालक की प्रथम गुरु होती है, विवेकानन्द जी के जीवन में भी माँ के द्वारा आरम्भिक शिक्षा का सूत्रपात किया गया बंगाली भाषा की वर्णमाला, कुछ अंग्रेजी शब्दों का ज्ञान, रामायण एवं महाभारत की कथाएँ उनको माँ के द्वारा सिखाई गई। छः वर्ष की आयु की पूर्णता के पश्चात् विवेकानन्द जी को प्राथमिक विद्यालय में अध्ययन के लिए भेजा गया। परन्तु विद्यालय में सहपाठियों के द्वारा सीखे अपशब्दों के कारण घर पर ही अलग शिक्षक की व्यवस्था की गई। जिससे सूक्ष्मबुद्धि एवं तीव्र स्मरण शक्ति का विकास हुआ। इसी कारण उन्होंने संस्कृत व्याकरण, रामायण व महाभारत का काफी अंशों को बड़ी सरलता व कम समय में ही कण्ठस्थ कर लिया। 1870 ई. में सात वर्ष की आयु में उनको ईश्वरचन्द्र विद्यासागर द्वारा स्थापित मेट्रोपोलिटन ट्यूशन में प्रवेश कराया गया। आपकी असाधारण बुद्धि ने शीघ्र ही अध्यापकों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर लिया। चौदह वर्ष की उम्र में नरेन्द्रनाथ के पेट में रोग होने के कारण उनका शरीर दुबला-पतला हो गया था।

उनके पिता श्री विश्वनाथ इन्हें अपने साथ रायपुर ले आये। रायपुर में उस समय स्कूल नहीं थे। अतः विश्वनाथ स्वयं पुत्र को शिक्षा

देने लगे। पुत्र की प्रतिभा उनसे छिपी न थी, पाठ्य पुस्तकों के अतिरिक्त दर्शन, इतिहास तथा साहित्य सम्बंधी अनेक पुस्तकें पुत्र को पढ़ाने लगे। घर में प्रतिदिन गुणी, ज्ञानी, व्यक्तियों के वाद-विवाद को नरेन्द्र ध्यान से सुना करता थे और उम्र में छोटे होने के बावजूद अपनी राय प्रकट करते थे, इससे सभी आनन्दित भी होते थे। उसके साथ अनेकानेक विषयों पर तर्क किया करते और उसे स्वाधीन भाव से अपना मत प्रकट करने का अवसर देते थे। दो वर्ष तक पिता के साथ रहकर नरेन्द्र ने केवल ज्ञानलाभ के साथ-साथ उनके किशोर चरित्र पर पिता की महानता की गम्भीर छाप भी पड़ी। दो वर्ष बाद नरेन्द्र रायपुर से कलकत्ता पहुँचे।

19 वर्ष की अवस्था में उन्हें प्रवेशिका में प्रवेश मिला। दो वर्ष के पाठ्यक्रम को उन्होंने एक ही वर्ष में प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण किया तथा इसके बाद प्रेसीडेन्सी कालेज में प्रवेश लिया। बाद में स्कॉटस मिशनरी बोर्ड द्वारा स्थापित जनरल ऐसेम्बली इंस्टीट्यूशन में पढ़ने लगे। उनकी प्रतिभा को देखकर कालेज के प्रधानाचार्य डब्लून्ट हेस्टे ने कहा था कि मैंने बहुत से देशों का भ्रमण किया है, पर अभी तक मुझे कहीं भी ऐसा लड़का नहीं मिला; जिसमें नरेंद्र जैसी प्रतिभा और संभावनाएँ हों। वह जीवन में अवश्यमेव अपनी छाप छोड़ जायेगा। नरेन्द्रनाथ ने कॉलेज में पाठ्य विषयों के अतिरिक्त साहित्य, दर्शन, धर्म और प्राचीन एवं आधुनिक इतिहास का भी अध्ययन किया। इन्होंने 1884 में बी. ए. पास किया, लेकिन इसी वर्ष इनके पिता का स्वर्गवास हो गया। नरेन्द्र एक मधुर, प्रफुल्ल एवं चंचल स्वभाव का बालक था। बचपन में नरेन्द्र अपनी बहनों को भी चिढ़ाकर परेशान किया करता था। इसलिए माँ उनको शान्त करने के लिए उनके ऊपर जल डालती थी।

पशु-पक्षियों के प्रति उनका प्रेम स्वाभाविक था। नरेन्द्र और संन्यासी हुए पितामह में काफी साम्यता थी। कुछ लोगों का विचार था कि उन्होंने नरेन्द्र के रूप में ही पुनः जन्म लिया है। भ्रमण करने वाले संन्यासियों में नरेन्द्र की बड़ी रुचि थी। माँ के द्वारा सुनाई गई पौराणिक कथाओं से प्रभावित होकर हिन्दु देवी-देवताओं के प्रति उनकी रूचि

बढ़ी। वे राम और सीता की मूर्ति लाकर उसकी श्रद्धा से पूजा करने लगे।

बालक नरेन्द्र बचपन में अपना ध्यान शिव मूर्ति के सामने बैठकर करते थे। उस समय उनकी मित्रता जिन लोगों के साथ हुई वो आजीवन बनी रही। अपने स्कूल के समय में बालकों के निर्विरोध नेता होते थे। खेल-खेल में भी राजा का अभिनय किया करते थे उनका प्रत्येक कर्म यह सूचित करता है कि वह जन्म से ही मानव मात्र के नायक थे। स्कूल में पढ़ाई के साथ तलवार चलाना, कुश्ती लड़ला, नाव चलाना, नाटकों में भाग लेना तथा अनेक वीरता से पूर्ण खेलों को खेला। पाकविद्या सीखने का भी प्रयास किया। अपने दोस्तों के साथ चिड़ियाघर एवं अजायब घर देखने जाते थे। खेल के समय होने वाले आपसी झगड़ों का निपटारा करते थे। मित्रों के साथ-साथ, लोगों के भी प्रिय थे, सभी उनके साहस एवं सच्चाई की सराहना करते थे। यह बालक कम उम्र से ही अंधविश्वासी एवं भयभीत प्रवृत्ति का नहीं था। बालक नरेंद्र को सोने से पहले एक अद्भुत दर्शन हुआ करता था। आंखों के बंद करते ही अपनी भौहों के बीच निरंतर परिवर्तनशील रंगों की एक ज्योति दिखाई पड़ती थी। वह बिंदु क्रमशः गोले का आकार लेकर फट जाता था तथा एक सफेद प्रकाश पुंज निकलकर उनके समस्त शरीर में फैल जाता था। तदुपरांत वे शनैः शनैः निद्रा में डूब जाते थे। इस ज्योति के दर्शन उन्हें जीवन के अंतिम काल तक होते रहे। वास्तव में यह आध्यात्मिक क्षमता एवं ध्यान की स्वाभाविक स्थिति थी। किशोरावस्था में प्रवेश उपरांत नरेन्द्रनाथ में परिवर्तन हो रहा था। अब उनका ज्यादा झुकाव बौद्धिक जीवन की तरफ था। वह साहित्य का अध्ययन करने, समाचार पत्र पढ़ने, सभाओं में भाग लेना उन्हें प्रिय हो गया था। उनके जीवन में मनोरंजन का प्रमुख साधन संगीत था।

रामकृष्ण परमहंस से भेंट और आध्यात्मिक जीवन-

बालक नरेन्द्र आरम्भ से ही जिज्ञासु प्रवृत्ति तथा ब्रह्म समाज से प्रभावित थे। इसलिए आध्यात्मिक विकास हेतु निरंतर धार्मिक व्यक्तियों

से मिलते थे। परन्तु किसी से उनकी जिज्ञासा शांत नहीं हुई। इनके मन में निरंतर विचार रूपी द्वंद्व चल रहा था। एक दिन नरेंद्र के प्रधानाचार्य विलियम हेस्टी कक्षा में विलियम वड्र्सवर्थ की कविता पढ़ाते सम कह रहे थे दक्षिणेश्वर में रामकृष्ण ने अपनी लगन, त्याग, तपस्या से ईश्वर का साक्षात्कार कर लिया है। जिज्ञासु प्रवृत्ति का होने के कारण युवक नरेंद्र नाथ ने निश्चय किया कि मैं भी दक्षिणेश्वर जाकर श्री रामकृष्ण से साक्षात्कार करूंगा। 1881 में कुछ साथियों सहित दक्षिणेश्वर पहुंचकर श्री रामकृष्ण के दर्शन किए। यह दिन उनके लिए काफी महत्त्वपूर्ण था। जब नरेन्द्र रामकृष्ण से मिले तो रामकृष्ण ने साधन के बल पर बालक नरेन्द्र की आध्यात्मिकता को तुरंत जान लिया। मानवता का उद्धार करने के लिए आपने इस पृथ्वी पर जन्म लिया है। बालक नरेन्द्र भी उनके व्यवहार को आश्चर्य के साथ देखते रहे; क्योंकि वे मुख मंडल से विक्षिप्त प्रतीत हो रहे थे। बालक ने उनसे प्रश्न किया क्या आपने ईश्वर का साक्षात्कार कर लिया है? तो श्री रामकृष्ण परमहंस ने सहज एवं सरल भाव से उत्तर दिया:- God can be realised one can see and talk to him. As I m doing with you. But who cares to do so. इस उत्तर से नरेन्द्र प्रभावित हुए परंतु उनको देखकर उन पर विश्वास नहीं कर सके। कुछ समय के उपरांत नरेन्द्र पुन: दक्षिणेश्वर गए तो श्री रामकृष्ण ने उन्हें बड़े स्नेहमय व्यवहार करते हुए अपने पास बैठाया। नरेन्द्र को अनुभूति हुई कि परमहंस के स्पर्श मात्र से उनके अंदर एक नवीन ऊर्जा पैदा हुई है। पिता के स्वर्गवास के पश्चात् घर की समस्त जिम्मेदारियां नरेन्द्र नाथ के ऊपर आ गई, उनके बिना धैर्य एवं साहस छोड़े विपत्तियों से लड़ते हुए परिवार के दिन बीतने लगे। एक बार पारिवारिक जिम्मेदारियों से परेशान होकर नरेन्द्र श्री रामकृष्ण से मिलने पुन: दक्षिणेश्वर जाकर दृढ़ विश्वास के साथ कहा कि महाराज! मेरी माता जी और भाई-बहनों को कुछ खाने के लिए मिले इसके लिए आप अपनी काली माता से अनुरोध कीजिए। श्री रामकृष्ण ने उनसे कहा

आज मंगलवार है। आज रात्रि में काली मंदिर में जाकर माँ को प्रणाम करके जो भी मांगेगा, मां तुझे वही देगी।

नरेन्द्र ने सोचा कि श्रीरामकृष्ण की जगन्माता क्या चीज है? इसकी भी आज परीक्षा कर देखना चाहिए। रात को एक पहर बीत जाने के बाद वे काली मंदिर को ओर चले और उन्होंने अपने मन में सोचा कि आज श्रीरामकृष्ण की कृपा से मेरे परिवार के कष्टों का अन्त होगा। तभी उन्होंने देखा कि जगदम्बा के प्रताप से मंदिर आलोकित है तथा पत्थर की मूर्ति न होकर जगदम्बा माँ अपने वास्तविक रूप में आकर हाथ फैला दया के साथ स्नेह का वरदान दे रही है। यह अद्‌भुत दृश्य देखकर नरेन्द्र सब कुछ भूल गया और भक्ति में विलीन होकर माँ से प्रार्थना करने लगा, माँ विवेक दो, वैराग्य दो, ज्ञान दो; जिससे मैं तुम्हारी कृपा से सदा ही तुम्हें देख सकूँ। नरेन्द्र मंदिर से लौट आये। श्रीरामकृष्ण के पूछने पर क्या माँगा? उन्हें अपने पूर्व संकल्प का स्मरण हो आया, वे श्रीरामकृष्ण के आदेश पर पुनः मन्दिर गए। लेकिन दूसरी और तीसरी बार भी वे अपने मुँह से कुछ न बोल पाए और न ही सांसारिक सुख की प्रार्थना कर सके; क्योंकि नरेन्द्र का तो जन्म से वैराग्य की ओर झुकाव था। इसी दिन से नरेन्द्र के जीवन में एक नया अध्याय शुरू हुआ। एक दिन रामकृष्ण ने अपने जवान शिष्यों को संन्यास देने का संकल्प किया और शुभदिन देखकर गेरूआ वस्त्र प्रदान किया, अब संन्यासी होकर नरेंद्र स्वामी विवेकानंद हो गए। एक दिन सायंकाल के समय ध्यान करते हुए नरेन्द्र अप्रत्याशित रूप से निर्विकल्प समाधि में डूब गये। काफी देर बाद समाधि टूटने पर उन्हें अनुभव हुआ की उनका मन उस स्थिति में सम्पूर्ण रूप से कामना शून्य था।

अपने महाप्रयाण से तीन दिन पूर्व रामकृष्ण परमहंस ने नरेन्द्र को स्पर्श करते हए कहा कि आज मैंने अपना सर्वस्व तुझे दे दिया है। मैं फकीर बन गया हूँ। रामकृष्ण के स्पर्शमात्र से विवेकानंद को समाधि के आनन्द की अनुभूति हुई। यह वही अनुभूति थी; जिसे नरेन्द्र बरसों से प्राप्त करना चाहता था।

स्वामी विवेकानन्द- परिव्राजक के रूप में

1890 ईस्वी में वे अपने गुरु भाइयों से विदा लेकर एक अज्ञात परिव्राजक संन्यासी के रूप में भ्रमण करने के लिए निकले, सर्वप्रथम हिन्दुओं के पवित्रम तीर्थ नगरी वाराणसी गये। वहाँ से संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान् प्रमदादास मित्र से मिले। हिन्दु धर्म और दर्शन की विविध समस्याओं के संबंध में उनसे स्वामीजी का पत्र व्यवहार चला करता था। वाराणसी से लखनऊ, आगरा, वृंदावन, हाथरस तथा ऋषिकेश गये। 22 जनवरी सन् 1890 में गाजीपुर के पवाहारी बाबा से भेंट की। तत्पश्चात् स्वामीजी ने हिमालय में जाकर अकेले रहने की अनिवार्यता का अनुभव कर स्वयं को सभी बँधनों से मुक्त करने के लिए गुरु-भाइयों से विदा ली। वे एक गोताखोर की तरह भारत महासागर में डूब गये तथा उस महासागर ने उन्हें ढक लिया। उस महासागर में तैरते हजारों संन्यासियों के मध्य वे भी मात्र एक संन्यासी के अतिरिक्त और कुछ नहीं थे।

भ्रमणकाल में उन्होंने उत्तर प्रदेश, राजस्थान, गुजरात, महाराष्ट्र, तमिलनाडु, कर्नाटक, हैदराबाद और केरल के अनेक धार्मिक तथा ऐतिहासिक स्थानों की यात्राएँ की। सभी जगह प्राचीन भारत का धार्मिक, ऐतिहासिक और सांस्कृतिक गौरव उनके समक्ष प्रत्यक्ष होता रहा। दु:ख दूर करने का उपाय ढूँढते हुये वे एक राज्य से दूसरे राज्य में घूमते रहे। इस प्रकार अनेक राज्यों के राजाओं तथा प्रमुख व्यक्तियों से उनकी भेंट हुई। इनमें खेतड़ी के राजा अजीत सिंह इनके घनिष्ठ मित्र तथा शिष्य हो गये। फरवरी 1891 को अलवर पहुँचे वहाँ उन्होंने पतंजलि के महाभाष्य का अध्ययन किया।

विश्व धर्म महासभा में -

1892 सितम्बर में पूना में महान राष्ट्रीय नेता बालगंगाधर तिलक से उनकी भेंट हुई। पहले तो स्वामीजी के प्रति उनका भाव बहुत आदर पूर्ण नहीं था। किन्तु बाद में उनके प्रखर विचारों तथा पाण्डित्य से प्रभावित होकर तिलक ने उन्हें अपने घर अतिथि के रूप में रहने का

आग्रह किया। पूना से वे बेलगाँव आये तथा कुछ दिन वे वहाँ रहकर मैसूर तथा बैंगलोर चले गये। पाश्चात्य देशों में जाकर भारत के लिए सहायता प्राप्त करने के लिए तथा सनातन धर्म का प्रचार करने के लिए इस कार्य में मैसूर के महाराजा ने उन्हें आर्थिक सहायता देने का आश्वासन दिया।

भारतवर्ष के भूत, भविष्य, वर्तमान, उसके पतन का कारण तथा उत्थान के उपायों पर वे ध्यान करते हैं। तब उन्होंने पाश्चात्य देशों की यात्रा पर जाने का गुरुत्वपूर्ण निर्णय लिया; जिससे कि वे भारत के निर्धनों के लिए सहायता प्राप्त कर सकें। इस निर्णय के साथ वे रामेश्वरम् व मदुरई गये। मदुरई में उनकी भेंट रामनाथ के राजा से हुई। राजा उनके निष्ठावान् सहयोगी बन गये तथा उन्हें सहायता देने का आश्वासन दिया। उसके बाद वे मद्रास गये, जहाँ आलासिंगापेरूमल के नेतृत्व में युवकों का एक दल उनकी प्रतीक्षा कर रहा था। उन्होंने इस दल को शिकागो में होने वाले विश्व धर्म महासभा में सम्मिलित होने के लिए अमेरिका जाने का अपना संकल्प बताया। उनके युवा शिष्यों ने उनके इस कार्य के लिए धन संग्रह किया। किंतु स्वामी जी को इस संबंध में जगन्माता का निश्चित बोध नही हुआ। अतः उन्होंने एकत्रित धनराशि को निर्धनों में बँटवा दिया। ठीक इसी समय स्वामीजी ने एक प्रतीकात्मक स्वप्न देखा। उन्होंने देखा कि श्रीरामकृष्ण समुद्र पर चल रहे हैं तथा स्वामीजी को अपने पीछे आने का संकेत कर रहें हैं। श्रीमती शारदा देवी को भी ठाकुर ने स्वप्न में इस संबंध में आदेश दिया था। श्रीमाँ की अनुभूति तथा आदेश से स्वामीजी की शंका का निवारण हुआ तथा उनके युवा शिष्यों ने पुनः धन संग्रह किया। भारत के लिए एक स्मरणीय दिन 31 मई 1881 रहा। इस दिन विवेकानंद बम्बई से अमेरिका के लिये जहाज पर रवाना हुये। धर्म महासभा में स्वामीजी बड़ी मुश्किलों के बाद पहुँच पाये और देश-विदेश के कोने-कोने से विद्वान वहाँ इकट्ठे हुए। सभी अपने मतों एवं धर्म के अनुकूल बातें बढ़ा-चढाकर बता रहे थे। लेकिन स्वामीजी ने सभी धर्मों के विशेषत्व पर प्रकाश

डाला और सर्वधर्म समभाव की बात लोगों को सिखाई। समन्वय, सहयोग और सहकारिता आदि मानवीय गुणों को सिखाया।

11 सितम्बर 1893 को स्वामीजी महाधर्मसभा में शामिल हुए। आर्ट इंस्टीट्यूट का विशाल सभा भवन लगभग सात हजार लोगों से खचाखच भरा हुआ था; जो उस देश की सर्वश्रेष्ठ संस्कृति का प्रतिनिधित्व करते थे। स्वामीजी ने इसके पूर्व इतनी प्रबुद्ध तथा विशाल सभा को संबोधित नहीं किया था, वे एकदम घबरा गये। जब उनकी बारी आयी तो उन्होंने विद्या की देवी माँ सरस्वती को सबसे पहले मन ही मन प्रणाम किया तथा "अमेरिकावासी भाइयों एवं बहनों"- इन शब्दों के साथ अपना भाषण शुरू किया। तभी विशाल जनसमूह आनंद और उल्लास से बादल गरजने की भांति लगातार कई मिनट तक तालियाँ बजाते रहे और उनका उत्साहवर्धन करते रहे। उनके सरल एवं ज्वलंत शब्दों, महान् व्यक्तित्व तथा उज्ज्वल मुखमंडल ने श्रोताओं पर ऐसा प्रभाव डाला कि दूसरे दिन समाचार पत्रों ने उन्हें धर्म महासभा का सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति घोषित कर दिया। हाथ में भिक्षापात्र लिए सामान्य संन्यासी आज युग पुरुष हो गया। 18 नवम्बर 1894 को स्वामी विवेकानन्द न्यूयार्क गये। 1 अगस्त 1895 में इंग्लैण्ड पहुँचे। वहाँ उन्हें जैसा कठोर परिश्रम करना पड़ा, उसका अनुभव करने से ही बड़ा विस्मय होता है। 6 दिसम्बर 1895 में पुनः न्यूयार्क गये तथा 15 अप्रैल 1896 में स्वामी जी पुनः इंग्लैण्ड गये। 19 दिसम्बर 1896 को सेवियर दंपती के साथ स्वामीजी लंदन से रवाना हुए तथा रोम और इटली के अन्य शहरों की यात्रा कर 30 दिसम्बर को नेपल्स से जहाज के द्वारा भारत के लिए प्रस्थान किया। यहाँ गुडविन भी उनके साथ हो गये। 15 जनवरी 1897 को ये लोग कोलम्बो पहुँचे। स्वामीजी के आगमन का समाचार भारत में पहले ही पहुँच चुका था तथा देश भर में सभी स्थानों पर अत्यंत उत्साहपूर्वक तैयारियाँ उनके स्वागत के लिए होने लगी थी। कोलम्बो के सिटी हॉल में उनका स्वागत हुआ। श्रीलंका के नागरिकों के अतिशय उत्साह के कारण उन्हें वहाँ थल मार्ग से पूरे लंका की यात्रा

कर मद्रास जाना पड़ा। रोमारोला ने कहा है कि स्वामीजी ने हर्षोन्मत भारतवासियों की आशा का रूप अपने संदेशरूपी शंखनाद के द्वारा भगवान् राम, शिव और कृष्ण की भूमि को जगाकर तथा उसकी अमर आत्मा के संघर्ष का आवाहन है।

स्वामीजी ने श्री बलराम बोस के निवास पर श्रीरामकृष्ण के संन्यासी तथा गृही शिष्यों की सभा बुलाई और इस प्रकार 1 मई 1897 को रामकृष्ण मिशन का गठन हुआ। 1898 में कलको में जब प्लेग की महामारी फैली तब मठ के संन्यासियों तथा गृही भक्तों को लेकर स्वामीजी अपने पाश्चात्य शिष्यों के साथ नैनीताल और अल्मोड़ा के लिए रवाना हुए। इनके पाश्चात्य शिष्यों में मुख्यत: भगिनी निवेदिता के लिए यह समय कठिन प्रशिक्षण और तैयारी का था। 18 अक्टूबर को जब वे कलकत्ता पहुँचे, तब वे बहुत दुर्बल कमजोर और रोग ग्रस्त हो गये थे। फिर भी उन्होंने स्वयं को अनेक कार्यों में लगा दिया। किंतु स्वामीजी का स्वास्थ्य बिगड़ता जा रहा था। अत: इस आशा से कि पश्चिम देशों में जाने पर उनके स्वास्थ्य में सुधार होगा। उनके संन्यासी भाइयों ने उनके पुन: विदेश यात्रा के प्रस्ताव का स्वागत किया।

31 जुलाई 1899 को स्वामी जी लंदन पहुँचे। 19 अगस्त को न्यूर्याक चल दिये तथा 20 जुलाई 1900 तक वे अमेरिका में रहे। 1 अगस्त 1900 से 24 अक्टूबर 1900 तक वे फ्रांस में रहे। इसके बाद विएना, बल्कान देशों, कुस्तुनतुनिया, यूनान और मिश्र होते हुए वे दिसम्बर 1900 के अंत में भारत आ गये।

सन् 1901 के अंत में जापान से दो बौद्ध भिक्षु स्वामीजी को जापान में होने वाले धर्म सम्मेलन में भाग लेने के लिए निमंत्रण देने आए। स्वामीजी उनका निमंत्रण स्वीकार तो न कर सके; किंतु उनके साथ वे बोधगया और वाराणसी गये। वाराणसी में उन्होंने देखा कि कुछ युवक उनकी प्रेरणा से दरिद्रों की सेवा में जुट गये हैं। यह देखकर उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई। उन युवकों द्वारा प्रारम्भ किया गया यही कार्य भविष्य में रामकृष्ण सेवा आश्रम वाराणसी के रूप में परिवर्तित हुआ। स्वामीजी

को अपने महाप्रयाण का आभास हो गया था। अंतिम दिनों में उनके उपदेश विशेष अर्थपूर्ण तथा सोद्देश्यपूर्ण थे।

लेखन कार्य

स्वामी विवेकानंद ने अनेक ग्रंथों का लेखन किया। उनके भाषणों में देश के लिए कार्य करने तथा देश को उँचा उठाने की प्रेरणा मिलती थी। स्वामी विवेकानंद जी ने 1. उत्तिष्ठित जागृत। 2. मेरे गुरुदेव। 3. परिव्राजक- ये ग्रंथ लिखे। उपर्युक्त ग्रंथों के अलावा उन्होंने विभिन्न विषयों पर जो भाषण दिये थे, वे भी संकलित रूप से प्रस्तुत हैं। इन व्याख्यानों के अंतर्गत कर्मयोग, भक्तियोग, आधुनिक भारत, पूर्व एवं पश्चिम, वेदांत का रहस्य आदि विषयों का समावेश है।

यौगिक विचारधारा

वास्तव में मोक्ष का मार्ग सत्य साधना है, योग साधना है। जीवन का लक्ष्य है- मोक्ष की प्राप्ति। लेकिन जब तक मनुष्य स्वयं में ब्रह्म होने की अनुभूति प्राप्त नहीं कर लेता, वह मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता। इस सिद्धि को प्राप्त करने के अनेक मार्ग हैं। योग को चार वर्गो- कर्मयोग, भक्तियोग, राजयोग व ज्ञानयोग- में विभक्त किया जा सकता है। इसमें से प्रत्येक ब्रह्मसिद्धि का परोक्ष मार्ग है। ये योग विभिन्न स्वभाव के लोगों के अनुकूल होते हैं। अतः योग की सभी प्रणालियों का लक्ष्य मनुष्य के हृदय में विद्यमान अविद्या को हटाना और आत्मा को उसके वास्तविक स्वरूप में फिर से स्थापित कर देना है।

कर्मयोग- स्वामी विवेकानंद के अनुसार कर्मयोग का अर्थ है- दूसरों की सहायता करना दूसरों के लिए यह जीवन समर्पित कर देना। जिस प्रकार से नदी, पर्वत और वृक्ष अपने लिए कुछ नहीं करते हैं, पूरा जीवन दूसरों की सहायता में दूसरों की सेवा में लगा देते हैं। इसी प्रकार से अपने जीवन को दूसरों की भलाई में या दूसरों की सेवा में लगा देना और उसका कभी भी उसका गुणगान ना करना, उसका फायदा ना उठाना, ऐसा कर्म करके उसको ईश्वर को अर्पित कर देना ही कर्मयोग कहलाता है।

भक्तियोग– भक्ति अथवा पूजा किसी भी रूप में मनुष्य के लिए सबसे अधिक सरल, सुखद और स्वाभाविक मार्ग है। स्वामीजी कहते हैं कि भक्ति का अवलम्बन ईश्वर है।

राजयोग– राजयोग धर्म की पद्धति है। स्वामीजी कहते हैं जिस प्रकार हर विज्ञान की अनुसंधान करने की अपनी विशिष्ट पद्धति होती है। उसी प्रकार राजयोग धर्म की पद्धति है। राजयोग पर स्वामी जी का विचार उनकी राजयोग नामक पुस्तक में देखा जा सकता है।

ज्ञानयोग– ज्ञानयोग तीन अंगों में विभक्त किया जा सकता है। पहला आत्मा ही एकमात्र वास्तविक हैं और सब माया है। दूसरा इसके दर्शन करने पर सभी दृष्टिकोणों स्पष्ट हो जाते हैं। तीसरा–सत्य की अनुभूति प्राप्त की जाती है कि ब्रह्म सत्य है और सब मिथ्या है।

महासमाधि– स्वामी विवेकानन्द दिसम्बर 1900 के अंत में भारत लौट आये। लेकिन वहां से आकर अस्वस्थ रहने लगे। फिर भी वे धर्म प्रचार, समाज सेवा और जन–कल्याण के कार्यों में अन्त तक लगे रहे और जब तक विश्व के लोग उनको समझ पाते उस से पहले शुक्रवार 4 जुलाई 1902 के दिन को स्वामीजी महासमाधि में लीन हो गए।

स्वामी विवेकानन्द दर्शन शिक्षा, आध्यात्म एवं योग के क्षेत्र में प्रतिभा के धनी थे। उनके द्वारा जो भी योगदान भारतवर्ष तथा विश्वसमुदाय को मिला पूर्णतः अनुकरणीय है। आज भी देश के युवा जगत के बीच एक आदर्श व्यक्तित्व के रूप में यदि किसी का नाम लिया जाता है, तो स्वामी विवेकानन्द अग्रपंक्ति में आते हैं।

जिस समय भारतीय समाज, संस्कति, धर्म आध्यात्म एवं योग विद्या के क्षेत्र में विभिन्न विकृतियाँ गलत धारणाओं में संलिप्त थी। उस समय स्वामीजी एक क्रांतिकारी योद्धा के रूप में अवतरित हुए और उनके निराकरण के लिए पुरूषार्थ किया।

स्वामी कुवलयानन्द जी

स्वामी कुवलयानन्दजी के व्यक्तित्व एवं कृतित्व का विवेचन निम्न बिन्दुओं के अन्तर्गत किया जा सकता है।

जन्म : स्वामी कुवलयानन्द जी का जन्म गुजरात के धोबई नामक गांव में 30 अगस्त सन् 1883 को हुआ था। इनके बचपन का नाम जगन्नाथ गणेश गुन्रे था। इनके पिता अध्यापक थे। इनकी माता का नाम सरस्वती था, वे एक गृहिणी थीं। स्वामीजी अपने विद्यार्थी जीवन में एक मेधावी छात्र थे। वह महान् बुद्धिमत्ता वाले व्यक्ति थे। वह संस्कृत के अग्रणी छात्र के रूप में रहे।

शिक्षा- मेधावी छात्रों में वे अग्रणी छात्र के रूप में रहे। मैट्रिक की परीक्षा उत्तीर्ण करने के बाद इन्होंने संस्कृत विषय में छात्रवृत्ति प्राप्त की। मैट्रिक की परीक्षा में भी इन्होंने पूरे राज्य में प्रथम स्थान प्राप्त किया था। ये लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक एवं श्री अरविन्द के विचारों से अत्यधिक प्रभावित थे। इनसे प्रभावित होकर इनके मन में विचार आया कि उन्हें भी अपना जीवन मानवता की सेवा में लगाना चाहिये।

मानव सेवा- स्वामी कुवलयानंद जी के प्रथम गुरु राजरत्न प्रोफेसर मालिक राय थे; जिनसे इन्होंने सन् 1907 से 1910 तक शारीरिक शिक्षा का प्रशिक्षण प्राप्त किया। इनके दूसरे गुरु; जिनसे इन्होंने योग के गुप्त रहस्यों को जाना, वे थे– माधवदास जी महाराज। माधवदास जी से प्रभावित होकर स्वामी कुवलयानन्द जी के मन में विचार आया कि योग का वैज्ञानिक पक्ष सामान्य जन के समक्ष उद्घाटित किया जाना चाहिये; जिससे कि प्रत्येक मनुष्य अपनी छिपी एवं लुप्त क्षमताओं को जागृत एवं सक्रिय करके अपने जीवन को उन्नत बना सके। इस हेतु इन्होंने शंकरशास्त्र वेदान्त का गहन अध्ययन किया तथा योगाभ्यासों के शरीर एवं मन पर पड़ने वाले प्रभावों का प्रयोगात्मक ढंग से वैज्ञानिक अध्ययन करना प्रारम्भ कर दिया। स्वामी कुवलयानन्दजी ने योगाभ्यासों में भी प्रमुख रूप से दो यौगिक क्रियाओं (उड्डियान बंध और नेति क्रिया) के शरीर तथा मन पर पड़ने वाले प्रभावों का विशेष रूप से

अध्ययन किया। इसके अतिरिक्त उन्होंने विविध प्रकार के आसन, प्राणायाम, षट्कर्म, बन्ध एवं मुद्राओं का भी वैज्ञानिक अध्ययन किया।

योग आश्रम की स्थापना– सन् 1924 में कुवलयानन्द जी के मन में विचार आया कि योग के क्षेत्र में अनुसंधान कार्य होना चाहिये। इसी विचार को कार्यरूप में परिणत करने के लिये इन्होंने लोनावला में कैवल्यधाम योग आश्रम की स्थापना की। योग से सम्बद्ध शोधपत्रों के लिये **योग मीमांसा** नामक शोध पत्रिका का प्रकाशन भी प्रारम्भ हुआ। कैवल्यधाम में ही एक राजा नटवर सिंह शरीर विकृति विज्ञान प्रयोगशाला की स्थापना भी की गई। कुछ लोगों के द्वारा अनुरोध किये जाने पर सन् 1832 में लम्बई में कैवल्यधाम आश्रम की एक शाखा खोली गई। इसी क्रम में सन् 1943 में सौराष्ट्र के राजकोट नामक स्थान पर कैवल्यधाम की एक और शाखा खोली गई। सन् 1993 में कैवल्यधाम में ही श्री माधव योग मन्दिर समिति का गठन किया गया; जिसका उद्देश्य योग साहित्य में नवीन वैज्ञानिक अनुसंधान को बढ़ावा देना था।

यौगिक अस्पताल की स्थापना– सन् 1961 में स्वामी कुवलयानन्द ने प्रथम यौगिक अस्पताल की स्थापना की। यह अस्पताल लोनावाला में ही स्थापित किया गया; जिसका नाम है– श्रीमती अमोलक देवी तीर्थराम गुप्ता यौगिक अस्पताल। सन् 1963–64 में स्वामी कुवलयानन्द जी ने अस्थमा पर यौगिक चिकित्सा के प्रभाव का वैज्ञानिक अध्ययन किया और इसे जनसामान्य के सम्मुख प्रमाणित भी किया।

कॉलेज की स्थापना– सन् 1950 में लोनावाला में योग और सांस्कृतिक अध्यापन के उद्देश्य से स्वामी जी द्वारा गोवर्धनदास कॉलेज की स्थापना की गई। इस कॉलेज की स्थाना का सर्वप्रमुख उद्देश्य था– युवाओं में मानवता एवं आध्यात्मिकता का विकास करना तथा अपने देश एवं संस्कृति के उत्थान की भावना का विकास करना। स्वामीजी के योग के क्षेत्र में उल्लेखनीय योगदान एवं इस विषय के प्रति अटूट श्रद्धा एवं समर्पण को देखकर अनेक राज्य सरकारों ने अपने यहाँ योग के प्रचार–प्रसार के लिये इन्हें आमंत्रित किया। स्वामीजी ने शिविरों के

माध्यम से भी शिक्षकों को योग का प्रशिक्षण प्रदान किया। न केवल भारत वरन् विदेशों में भी कैवल्यधाम (लोनावाला) से अध्ययन किये हुये व्यक्ति योग शिक्षकों के पदों पर नियुक्त किये गये। इस प्रकार स्वामी कुवलयानन्दजी ने अपना समस्त जीवन भारत की प्राचीनतम एवं महान धरोहर योगविद्या के उत्थान में तथा वैज्ञानिक ढंग से इसे जन सामान्य के सम्मुख लाने में लगा दिया। समस्त मानव जाति उनके इस अमूल्य योगदान के लिये हमेशा कृतज्ञ रहेगी।

अंतिम क्षण– स्वामीजी अंतिम क्षणों तक योग का प्रचार प्रसार करते रहे भारतीय योग विज्ञान में उनकी पूर्ण श्रद्धा और विश्वास था। वे मानते थे कि यह भारत की महान् धरोहर है और इसको देश–विदेश में प्रत्येक नागरिक तक पहुँचाना उनका परम कर्तव्य है। इसी महान यज्ञ को करते हुए स्वामीजी 18 अप्रैल 1966 को महासमाधि में लीन हो गए।

:: **परिशिष्ट** ::

योगसूत्र-दिग्दर्शन

॥ शं नो विष्णुः ॥

॥ श्रीगुरुभ्यो नमः ॥ श्रीनित्यनाथाय नमः ॥

महर्षि पतंजलि के द्वारा विरचित 'योगदर्शन' एक प्रसिद्ध सूत्रग्रन्थ है। वेदभगवान् के उपासना-काण्ड से इसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। चाहे कोई महर्षि पतंजलि के सांख्याश्रित दार्शनिक दृष्टिकोण को स्वीकार करे, अथवा नहीं; किन्तु उपासना की दृष्टि से सभी वैदिक-अवैदिक परम्पराओं ने इसको प्रशस्त माना है। योग-शब्द का शाब्दिक अर्थ है : जुड़ना (ब्रह्माभिन्न आत्मा से)। इसीलिए महाभारत में कहा गया है : *'परेण ब्रह्मणा सार्धमेकत्वं यन्नृपात्मनः। स एव योगो विख्यातः किमन्यद्योगलक्षणम्॥'* परब्रह्म के साथ अपने एकत्व की साधना को ही योग कहते हैं। जब साधक अपने मन को वृत्तिशून्य बनाकर तथा उसको परमात्मा में प्रतिष्ठित करके, परमात्मा के साथ अपनी एकरूपता का निश्चय करके मुक्त हो जाता है, तब वह 'योगयुक्त' कहलाता है :

वृत्तिहीनं मनः कृत्वा क्षेत्रज्ञे परमात्मनि ।
एकीकृत्य विमुच्येत योगयुक्तः स उच्यते ॥

(स्कन्दपुराण 4.1.41.51)

शाण्डिल्य, योगशिखा, हंस, अमृतबिन्दु, नादबिन्दु, क्षुरिका, तेजोबिन्दु, ध्यानबिन्दु, ब्रह्मविद्या, योगतत्त्व, त्रिशिखीब्राह्मण, योगचूडामणि, मण्डलब्राह्मण, अद्वयतारक, पाशुपतब्रह्म, योगकुण्डलिनी, श्वेताश्वतर, वाराह आदि उपनिषदों में वर्णित तथा गरुड, कूर्म, शिव, ब्रह्म, भविष्य आदि पुराणों में प्रतिपादित 'योग' (वैदिक उपासनाकाण्ड) का ही सुव्यवस्थित संग्रह इन

पातंजल योगसूत्रों में हुआ है। योगशास्त्र के आदि प्रवक्ता हिरण्यगर्भ (ब्रह्माजी) हैं। किन्तु चूंकि महर्षि पतंजलि ने ही उपर्युक्त साहित्य में उपलब्ध योगदर्शन को सूत्रों के द्वारा सुव्यवस्थित एवं उपनिबद्ध किया, इसीलिए वे ही इस शास्त्र के प्रवर्तक माने गए।

योग ही इसका 'विषय' है। उसका प्रतिपादन करना इस ग्रन्थ का तथा कैवल्य की सिद्धि इस शास्त्र का 'प्रयोजन' है। योगशास्त्र एवं योगसूत्रों में परस्पर प्रतिपाद्य-प्रतिपादक-भावरूप 'सम्बन्ध' है। कैवल्य के अभिलाषी तथा तदर्थ शास्त्रोचित प्रयत्नों में लगे साधक इसके 'अधिकारी' हैं। इस प्रकार इस शास्त्र एवं ग्रन्थ का अनुबन्ध-चतुष्टय समझना चाहिए। भगवान् पतंजलि के द्वारा प्रणीत 'योगानुशासनशास्त्र' (योगसूत्र) में समाधि, साधन, विभूति एवं कैवल्य नामक चार पाद हैं; जिनमें क्रमशः 51, 55, 55 एवं 34 (अर्थात् कुल 195) सूत्र हैं। 'समाधि' नामक प्रथम पाद में चित्तवृत्तिनिरोधरूप समाधि, अभ्यास एवं वैराग्य का स्वरूप तथा उनके साधनों का प्रकाश हुआ है। 'साधन' संज्ञक द्वितीय पाद में विक्षिप्त चित्त को समाधि में ले जाने हेतु यम-नियम-आदि पाँच बहिरंग साधनों का निरूपण हुआ है। वहीं; 'विभूति' नामक तृतीय पाद में धारणा, ध्यान और समाधि—इन तीन अन्तरंग साधनों का वर्णन करके योग द्वारा प्राप्त हो सकने वाली विभूतियों (सिद्धियों) का तथा 'कैवल्य' नामक चतुर्थ पाद में योग के लक्ष्य—कैवल्य का प्रपंचन हुआ है। संक्षेपतः कहें, तो समाधिपाद में योग (समाधि) का फलकथन, साधनपाद में उसके साधन, विभूतिपाद में उसके अवान्तर फल तथा कैवल्यपाद में योग के मुख्य फल का प्रतिपादन हुआ है।

प्रारम्भिक जिज्ञासुओं को योगसूत्र का बालबोध हो, तदर्थ इस आलेख के माध्यम से हम योगदर्शन के सूत्रागुणित तात्पर्य को अभिव्यक्त करते हैं :

भगवान् सूत्रकार ने समाधिपाद के पहले सूत्र (1.1) में अधिकारार्थक अथ-शब्द के द्वारा योगविषयक अनुशासन (शास्त्र) का आरम्भ किया

है। **1.2-4** के अनुसार; चित्त की वृत्तियों का निरोध हो जाना ही 'योग' (समाधि) है। जब तक प्राणी की चित्तवृत्तियाँ सक्रिय रहतीं हैं, तब तक वह वृत्ति के अनुरूप अपने स्वरूप की कल्पना करके भ्रमित (दु:खी) रहता है। किन्तु चित्तनिरोध होने पर वह अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाता है। **1.5-11** में वृत्तियों के पाँच प्रकार कहे गए हैं : प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति। किसी पदार्थ के सम्यक् अनुभव को 'प्रमाण' कहते हैं। योगदर्शन ने सांख्याभिमत तीन प्रमाणों को स्वीकार किया है : (1) प्रत्यक्ष (मन-बुद्धि-इन्द्रियमूलक अनुभव), (2) अनुमान (प्रत्यक्षाश्रित-युक्तिमूलक अनुभव) एवं (3) आगम (आप्तवचन; पूर्वोक्त दोनों से विलक्षण)। वहीं; किसी पदार्थ का भ्रमज्ञान 'विपर्यय' कहलाता है। उस पदार्थ-विषयक अज्ञान ही इसका प्रयोजक होता है। उदाहरण : अन्धकारवश किसी रस्सी को सर्प समझ लेना। त्रिकाल में अविद्यमान वस्तु की शाब्दिक कल्पना को 'विकल्प' कहते हैं। उदाहरण : किसी वन्ध्या स्त्री को पुत्र नहीं हो सकता, अत: 'वन्ध्यापुत्र' शब्द अर्थदृष्टि से निष्फल है। किन्तु इस शब्द की कल्पना ही विकल्प है। अनुभवशून्यता-विषयक चित्तवृत्ति को 'निद्रा' कहते हैं, जबकि पूर्वानुभूत विषयों के चित्तगत संस्कारों के पुन:स्फूर्ति की प्रयोजक वृत्ति को 'स्मृति' कहते हैं। यदि उक्त वृत्तियाँ साधक को आत्मोन्मुख करतीं हुई उसकी समाधि में सहायक बनें, तो इन्हें 'अक्लिष्ट' वृत्ति कहा जाता है। जबकि साधक को बहिर्मुख-अनात्मनिष्ठ बनाकर उसको संसारभाव में फंसाने वाली वृत्ति को 'क्लिष्ट' वृत्ति कहते हैं। यदि विस्तरश: कहें, तो जो युक्त निद्रा योग में सहायक है, वह अक्लिष्ट निद्रा कही जाएगी; जबकि योग में बाधा डालने एवं प्रमाद में धकेलने वाली निद्रा को हम क्लिष्ट निद्रा कहेंगे। ठीक ऐसे ही अन्यत्र भी समझना चाहिए।

1.12-16 में चित्तवृत्तियों को आत्मोन्मुखी बनाने के उपाय वर्णित हैं : अभ्यास और वैराग्य। चित्तस्थिरता हेतु श्रद्धापूर्वक किए गए सतत-दीर्घकालिक प्रयत्न को 'अभ्यास' कहते हैं। जबकि सभी (दृष्ट-लौकिक, आनुश्रविक-अलौकिक) अनात्म-विषयों की इच्छा का त्याग

'वैराग्य' कहलाता है। भगवान् सूत्रकार ने अभ्यासमूलक प्रारम्भिक वैराग्यदशा को 'वशीकार' तथा आत्मानुभवमूलक सुदृढ़ वैराग्यदशा को 'परवैराग्य' कहा है। 1.2 में सभी चित्तवृत्तियों के निरुद्ध हो जाने को योग कहा है; जो कि 'असम्प्रज्ञात समाधि' भी कहलाता है। इस दशा में ध्याता-ध्यान-ध्येय की त्रिपुटी लीन हो जाती है। किन्तु उससे पूर्व योगी को 'सम्प्रज्ञात समाधि' प्राप्त होती है; जो कि त्रिपुटीसहित होती है। **1. 17** में इसी को विशेषत: बतलाते हुए कहा गया है कि इस दशा में वितर्क, विचार, आनन्द तथा अस्मिता-इन चारों से ध्येय का सम्बन्ध (चित्तवृत्ति की तादात्म्य) रहता है। योगाभ्यास द्वारा साधक क्रमश: उक्त चारों स्तरों को पार करता है।

परवैराग्य के प्रभाव से साधक स्वत: संसार के प्रति उदासीन रहता है। इसी उदासीनता को **1.18** में 'विरामप्रत्यय' कहा गया है। जब योगाभ्यास से साधक उक्त स्थिति को भी पार करके वृत्तिशून्य हो जाता है, तब उसकी स्वरूपावस्थिति होती है; जिसको योगदर्शन में 'असम्प्रज्ञात-समाधि' अथवा 'कैवल्य' कहा गया है। **1.19** में 'विदेह' (देहात्मबुद्धिरहित) और 'प्रकृतिलय' (प्रकृति में भी आत्मदर्शन करने वाले) साधकों की असम्प्रज्ञात-समाधि को 'भवप्रत्यय' कहा गया है। वस्तुत: इस दशा में योगी को सम्पूर्ण भव (संसारप्रपंच) में भी अपनी आत्मरूपता का साक्षात्कार होता है। चाहे विदेह हो या प्रकृतिलय-दोनों प्रकार के साधक यदि किसी कारण से पुनर्जन्म लेते हैं, तो उन्हें जन्मना असम्प्रज्ञात-समाधि की सिद्धि होती है। जबकि **1.20-23** के अनुसार उपर्युक्त दोनों के अतिरिक्त साधकों को अपनी-अपनी तन्मयता एवं तत्परता के अनुरूप क्रमश: श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा अथवा केवल ईश्वरप्रणिधान (भगवच्छरणागति) के द्वारा असम्प्रज्ञात-समाधि सिद्ध होती है।

1.24-26 में शरणागति के विषय-ईश्वर का स्वरूप वर्णित है; जहाँ भगवान् सूत्रकार ने क्लेश (अविद्या-आदि पाँच), कर्म (पाप-पुण्य-आदि), विपाक (कर्मफल) और आशय (कर्मसंस्कार-

समुदाय) से त्रिकाल में असम्बद्ध पुरुष-विशेष को ही 'ईश्वर' कहा है। त्रिकाल में क्लेश-कर्म-आदि से मुक्त होने से वह मुक्तपुरुषों से विलक्षण सिद्ध होता है। उसमें ज्ञान की पराकाष्ठा है तथा वही ब्रह्मा-आदि पूर्वजों का भी गुरु (पूर्वज) है। **1.27-29** के अनुसार; ईश्वर ही 'ॐ' (प्रणव) का वाच्य है। अत: ईश्वरप्रणिधान के इच्छुक साधक को प्रणव का अर्थानुसन्धानपूर्वक जप करना चाहिए; ताकि उसकी योगसाधना में अन्तरायों (विघ्नों) का नाश हो और उसको आत्मानुभूति भी हो। **1. 30-31** में व्याधि, स्त्यान (अकर्मण्यता), संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्ति, अलब्धभूमिका और अनवस्थिति-ये नौ 'चित्तविक्षेप' तथा दु:ख, दौर्मनस्य, देहकम्प, श्‍वास और प्रश्‍वास-ये चार 'विक्षेपसहभू'; इस प्रकार कुल तेरह विघ्न परिगणित हैं। **1.32** के अनुसार; ईश्वरप्रणिधान के अतिरिक्त एकतत्त्व (अर्थात् चित्त को किसी एक ध्येय में स्थिर रखने) का अभ्यास करने से भी उक्त विघ्नों का प्रतिषेध होता है। **1. 33-39** में चित्त को स्थिर करने के सात उपाय बतलाए गए हैं : (1) सुखीजनों से मैत्री, दु:खियों पर दया, पुण्यात्माओं पर प्रसन्नता तथा पापियों की उपेक्षा। (2) प्राणायाम। (3) विषयवती प्रवृत्ति (अर्थात् दिव्य अनुभवों से उत्साहित एवं प्रेरित व्यवहार)। (4) शोकरहित होना। (5) राग-द्वेष को छोड़ देना। (6) स्वप्न या गहन निद्रा में। (7) अपने अभीष्ट/रुचिकर विषय का ध्यान।

भगवान् सूत्रकार **1.40-46** में कहते हैं कि योग हेतु अपेक्षित चित्तस्थिरता आ जाने पर साधक को सभी (स्थूल या सूक्ष्म) विषयों में वशीकार (आरम्भिक वैराग्य) हो जाता है; जिसके प्रभाव से वह शुद्धमना साधक बाह्य विषयों से हटकर केवल ध्याता-ध्यान-ध्येय तक सीमित हो जाता है। इसी स्थिति को सम्प्रज्ञात अथवा सबीज समाधि कहते हैं। 1.17 में वर्णित चार घटकों के आधार पर सम्प्रज्ञात-समाधि के चार स्तर (भेद) होते हैं : (1) वितर्कानुगत/सवितर्क, (2) विचारानुगत/सविचार, (3) आनन्दानुगत/सानन्द तथा (4) अस्मितानुगत/सास्मित। उक्त स्तरों में चित्तवृत्ति की तादात्म्यापत्ति अपनी संज्ञा के विषय में ही

होती है। अभिप्राय : 'वितर्कानुगत' समाधि में साधक शब्द-आदि विकल्पों से युक्त वितर्क (स्थूल विषय) में एकाग्र हो जाता है। 'विचारानुगत' में उसकी एकाग्रता पूर्वोक्त वितर्कों से हटकर विचारों (सूक्ष्म-मनोगत संस्कारों) में हो जाती है। 'आनन्दानुगत' में वह विचारशून्य होकर केवल आनन्द का अनुभव करता है। जबकि 'अस्मितानुगत' में उक्त आनन्द का अनुभव भी नहीं होता और साधक केवल अस्मिता (सन्मात्ररूपता) में स्थित होता है। **1.47-51** के अनुसार; उक्त स्थिति में पहुँच चुके साधक को अध्यात्मप्रसाद (आत्यन्तिक बुद्धिशुद्धि) की प्राप्ति होती है। तब उसकी प्रज्ञा ऋतम्भरा (अर्थात् यथार्थ-अप्राकृत-त्रिगुणातीत वस्तुतत्त्व की ग्राहक) हो जाती है। इस ऋतम्भरा प्रज्ञा के संस्कार साधक के चित्त में विद्यमान अन्य संस्कारों को प्रतिबन्धित करते हैं और धीरे-धीरे उसकी ध्याता-ध्यान-ध्येय की त्रिपुटी का भी लय हो जाता है। त्रिपुटी का लय होते ही साधक असम्प्रज्ञात-समाधिरूप कैवल्य में पहुँच जाता है; जो कि योगदर्शन का लक्ष्य है।

विगत पाद में चित्तस्थिरता पर बल दिया गया था। प्रारम्भिक साधकों के लिए चित्तस्थिरता के साधनों का विशेषतः प्रकाश करने के लिए ग्रन्थ का 'साधनपाद' नामक दूसरा पाद प्रवृत्त होता है। **2.1-2** में (1) 'तप' = वर्णाश्रमोचित शास्त्रोक्त कर्म, (2) 'स्वाध्याय' = सद्ग्रन्थों का अर्थबोधपूर्वक अध्ययन, तथा (3) 'ईश्वरप्रणिधान' = भगवच्छरणागति-इन तीनों के समाहार को 'क्रियायोग' शब्द से अभिहित किया गया है। उक्त तीनों के सम्यक् अनुष्ठान से अविद्या-आदि क्लेश क्षीण होते हैं, फलतः चित्तनिरोध में सौविध्य होता है। **2.3-11** में अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश-इन पाँचों क्लेशों के स्वरूप तथा इनके निवारण के दो उपायों का वर्णन हुआ है। अविद्या ही अन्य-चार क्लेशों का मूलकारण है। वे सभी यथावसर निम्नलिखित चार अवस्थाओं को प्राप्त होते हैं :

(1) प्रसुप्त : सूक्ष्म अथवा निष्क्रिय हो जाना।

(2) तनु : योगाभ्यास द्वारा कुछ काल के लिए निरुद्ध/शान्त हो जाना।

(3) विच्छिन्न : किसी एक क्लेश के सक्रिय रहने पर अन्य का निष्क्रिय रहना।

(4) उदार : पूर्णतः सक्रिय हो जाना।

आत्मा नित्य (अविनाशी), पवित्र (अविकारी) तथा सुख स्वरूप है। किसी अनात्म-पदार्थ (अर्थात् अनित्य, अपवित्र एवं दुःखरूप) में आत्मबुद्धि रखना ही 'अविद्या' है। अविद्या के कारण पुरुष (द्रष्टा) और अन्तःकरण (दर्शन-साधन) में सर्वथा एकात्मता (अभेदज्ञान) हो जाती है। इसी को 'अस्मिता' कहते हैं। सुखद प्रतीति करवाने वाले पदार्थ के प्रति अनुकूलता को 'राग' तथा दुःखद प्रतीति के प्रयोजक पदार्थ के प्रतिकूलता को 'द्वेष' कहते हैं। प्रत्येक प्राणी में प्राप्त मरणभयरूपी स्वाभाविक क्लेश को 'अभिनिवेश' कहते हैं। साधक को चाहिए कि वह क्रियायोग अथवा ध्यान के द्वारा उक्त पाँचों क्लेशों को प्रतिक्षण निष्क्रिय करने हेतु तत्पर होवे।

2.12-15 के अनुसार; जब तक उक्त पाँचों क्लेश रहेंगे, तब तक प्राणी के क्लेशमूलक कर्माशय का भी उदय होता रहेगा। उसी से प्राणी को (1) 'जाति' = पुनर्जन्म, (2) 'आयु' = भोगों को भोगने हेतु नियत कालावधि, और (3) 'भोग' = पापपुण्यरूप प्रारब्ध/कर्मफल (पुण्य के फल-सुख तथा पाप के फल-दुःख) भी प्राप्त होते रहेंगे। सभी भोगों में ये चारों कष्ट सतत बने रहते हैं :

(1) 'परिणाम' = अनित्यता + अस्थिरता + अल्पफलता।

(2) 'ताप' = पूर्वोक्त तीनों परिणामों का भय।

(3) 'संस्कार' = विगत सुखों का वियोग।

(4) 'गुणवृत्तिविरोध' = गुणों के स्वभावभेद से उनके कार्यो-भोगों में पारस्परिक विरोध। जैसे सुख सत्त्वगुण का कार्य है तथा अशान्ति तमोगुण का। किन्तु कई बार उक्त दोनों गुणों के स्वाभाविक विरोध के कारण भोक्ता पुरुष को सुखभोग के समय भी अशान्ति बनी रहती है।

अतः चाहे सुख हो या दुःख, ज्ञानीलोग दोनों को ही दुःखरूप समझते हैं। **2.16-17** के अनुसार; जो अब तक फलाभिमुख नहीं हुए, ऐसे दुःखों के आत्यन्तिक निवारण हेतु आत्मा-अनात्मा में प्राप्त अविद्यामूलक अभेदज्ञान (अभिनिवेश) का निवारण करना अत्यावश्यक है। इसके चिन्तन हेतु **2.18-22** में सांख्यदर्शन की प्रक्रिया का संग्रह किया गया है। आत्मा द्रष्टा (पुरुष) है, अनात्मा उसका दृश्य (प्रकृति) है तथा इन दोनों का पारस्परिक अभेदज्ञान ही दर्शन है। प्रकाश (सत्त्व), क्रिया (रजस्) और स्थिति (तमस्)-यही इस दृश्य (प्रकृति) के गुणस्वभाव हैं। पंचमहाभूत, पंचतन्मात्रा, दस इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और अहंकार-ये सभी इस त्रिगुणात्मक दृश्य के स्वरूप हैं। गुणतारतम्य से इस त्रिगुणात्मक दृश्य की चार अवस्थाएँ हैं : (1) विशेष (सांख्योक्त सोलह विकार; दस इन्द्रियाँ + पंचमहाभूत), (2) अविशेष (पंचतन्मात्रा + अहंकार), (3) लिंगमात्र (महत्) तथा (4) अलिंग (मूलप्रकृति)। द्रष्टा की भोगापवर्गसिद्धि ही इस दृश्य का प्रयोजन है। जबकि द्रष्टा उक्त दृश्य से सर्वथा विलक्षण, वस्तुतः दृशिस्वरूप (दृक्शक्तिरूप, न कि द्रष्टा या दृश्य) एवं शुद्ध (निर्विकार) है। उसका द्रष्टृत्व स्वाभाविक नहीं है, अपितु बुद्धि (दर्शनसाधन) की उपाधि से द्रष्टा में द्रष्टृत्व आया है।

2.23-27 में वर्णन है कि जो पुरुष अपनी प्रकृति से विलक्षण सत्ता को जान लेता है, उसके लिए यह प्रकृति निष्क्रिय हो जाती है। तब वह पुरुष कैवल्य में प्रतिष्ठित हो जाता है। उससे पूर्व पुरुष एवं प्रकृति में अविद्यामूलक संयोग (अभेदज्ञान) बना रहता है। अविद्या के निवृत्त होते ही तन्मूलक संयोग का अभाव हो जाता है; जिससे 'हान' (अर्थात् संयोगजनित पुनर्जन्म-आदि समस्त दुःखप्रपंच का आत्यन्तिक अभाव) हो जाता है। फिर पीछे शेष बचा दृशिस्वरूप चेतन आत्मा का कैवल्य सिद्ध होता है। हान का उपाय है-'विवेकख्याति' (अर्थात् प्रकृति और पुरुष के स्वरूपों का यथार्थ ज्ञान; विवेक = प्रकृति-पुरुष का स्वरूपगत वैलक्षण्य, ख्याति = ज्ञान)। विवेकख्याति के बाद साधक को प्रज्ञा (बुद्धि) की क्रमशः निम्नलिखित सात अवस्थाएँ प्राप्त होतीं हैं :

(1) 'ज्ञेयशून्यता' = सम्पूर्ण प्रपंच की अनित्यता का ज्ञान होने पर उसमें पुनः कुछ ज्ञेय (जानने-योग्य) न बचना।

(2) 'हेयशून्यता' = द्रष्टा और दृश्य के अविद्यामूलक संयोग का हेय (अभाव) हो जाने पर अब कुछ हेय (अभाव होने-योग्य) न बचना।

(3) 'प्राप्यप्राप्तता' = समाधिरूप परमलक्ष्य प्राप्त हो जाने के बाद अब कुछ प्राप्य (प्राप्त होने-योग्य) न बचना।

(4) 'चिकीर्षाशून्यता' = अचल एवं निर्दोष विवेकख्याति हो जाने पर अब कुछ और जानने की इच्छा न बचना।

(5) 'कृतार्थता' = सभी प्रयोजनों (भोग एवं अपवर्ग) की आत्यन्तिक सिद्धि।

(6) 'गुणलीनता' = चित्त का अपने कारणरूपी गुणों में लीन हो जाना।

(7) 'आत्मस्थिति' = पुरुष की अपने गुणातीत स्वरूप में आत्यन्तिक अवस्थिति।

जिस साधक को उक्त सातों अवस्थाओं का अनुभव हो चुका है, वही मुक्त योगी है। **2.28** में भगवान् सूत्रकार कहते हैं कि अष्टांगयोग के अभ्यास द्वारा साधक की चित्तगत अशुद्धियों का शनैः-शनैः क्षय होता है; जिससे उसकी विवेकख्याति का मार्ग प्रशस्त होता है। **2.29** में योग के ये आठ अंग कहे गए हैं : यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। **2.30-45** में यम एवं नियम का वर्णन किया गया है। तदनुसार; पाँच यम निम्नलिखित हैं :

(1) 'अहिंसा' = मन-वाणी-कर्म से किसी प्राणी को प्रतिकूलता न देना।

(2) 'सत्य' = अनुभूत विषय का यथार्थ प्रतिपादन।

(3) 'अस्तेय' = चोरी (अर्थात् दूसरे के स्वत्व का हरण) न करना।

(4) 'ब्रह्मचर्य' = मन-वाणी-कर्म से सर्वविध मैथुन का त्याग।

(5) 'अपरिग्रह' = अपने स्वार्थ के लिए भोगसामग्री का संचय न करना।

उक्त पाँचों यमों का सार्वकालिक एवं सार्वभौम पालन 'महाव्रत' बन जाता है। इसी प्रकार; पाँच नियम भी हैं : शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान। इनमें (1) 'शौच' का अर्थ है : शास्त्रोचित विधि से बाह्य-अभ्यन्तर शुद्धिकरण। (2) 'सन्तोष' = प्रारब्धवश प्राप्त सुखभोगों से तृप्त रहते हुए अप्राप्त भोगों की इच्छा न करना। जबकि (3-5) तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान का संकेत पीछे (2.1-2 में) हो चुका है। उक्त यम-नियमों की विपरीत मनोभावनाएँ-जिन्हें 'वितर्क' कहते हैं और जो योगमार्ग के विघ्न हैं-तीन प्रकार की होतीं हैं :

(1) 'कृतकारितानुमोदित' = स्वयं या किसी दूसरे के द्वारा कृत तथा अपने द्वारा अनुमोदित।

(2) 'लोभक्रोधमोहपूर्वक' = लोभ, क्रोध या मोह के कारण आए हुए।

(3) 'मृदुमध्याधिमात्रा' = न्यून, मध्यम या अधिक मात्रा में।

सभी वितर्क दु:ख एवं अज्ञानरूप फल को देने वाले होते हैं-ऐसा सोचना 'प्रतिपक्षभावना' कहलाता है। इसके प्रभाव से स्वयं ही वितर्कों के प्रति उदासीनता होने लगती है। 2.35-45 तक यम एवं नियम के फल बतलाए गए हैं : अहिंसा से योगी के आसपास लोग वैर त्यागने लगते हैं। सत्य के प्रभाव से योगी में क्रियाफल का आश्रयत्व (अर्थात् शाप-वरदान-आदि देने का सामर्थ्य) आ जाता है। अस्तेय से उसके पास सभी ऐश्वर्य स्वत: आने लगते हैं तथा ब्रह्मचर्य के कारण उसके सामर्थ्य में वृद्धि होती है। अपरिग्रह से उसको पूर्वजन्मों की स्मृति प्राप्त होती है। शौच से उसको अनात्म-पदार्थों में आसक्ति का ह्रास, अन्त:शुद्धि, मन की प्रसन्नता, चित्तैकाग्रता, इन्द्रियदमन एवं आत्मसाक्षात्कार की योग्यता प्राप्त होने लगती है। सन्तोष से सर्वोत्तम सुख का लाभ होता है। तप से

अशुद्धिक्षय एवं देह-इन्द्रियों की सिद्धि होने लगती है। अभिप्राय : देहगत अशुद्धियाँ (मल-मूत्र-स्वेद-आदि में दुर्गन्ध) घटने लगती हैं, दूरश्रवण-दूरदर्शन-आदि सिद्धियाँ प्राप्त होने लगतीं हैं। स्वाध्याय से इष्टदेवता का साक्षात्कार तथा ईश्वरप्रणिधान से समाधि की सिद्धि सम्भव है।

तदनन्तर **2.46-48** के अनुसार; 'आसन' का अर्थ है-सहजरूप से परमात्मा में मन लगाते हुए निश्चल होकर बैठना; न कि बलात्। आसन सिद्ध होने पर साधक में द्वन्द्वसहिष्णुता आ जाती है; जिससे 'प्राणायाम' (अर्थात् श्वास-प्रश्वास की दीर्घ या सूक्ष्म गति का देश-काल-संख्या द्वारा नियन्त्रण) सुलभ होता है। भगवान् सूत्रकार ने **2. 50** में प्राणायाम के तीन भेद कहे हैं : 'बाह्य' (रेचक; प्राणवायु को छोड़ना), 'अभ्यन्तर' (पूरक; प्राणवायु को शरीर में भरना) और 'स्तम्भन' (कुम्भक; प्राणवायु को शरीर में ही रोकना)। कभी-कभी चित्त के स्थिर हो जाने पर बाह्य-अभ्यन्तर का कुछ बोध ही नहीं रहता। तब प्राणवायु बिना काल-संख्या का विचार किए ही किसी देश-विशेष में स्थिर हो जाती है। **2.51** में इसको पूर्वोक्त तीनों से विलक्षण-चौथा प्राणायाम बताया गया है। **2.52-53** में प्राणायाम के दो फल वर्णित हैं : पंचक्लेशरूपी आवरण का भंग तथा मन की धारणाशक्ति (चित्तस्थिरता) का विकास। फिर **2.54-55** में 'प्रत्याहार' की चर्चा करके साधनपाद को पूर्ण किया गया है। इन्द्रियों का विषयों से उपरत होकर चित्त में विलीन होना ही 'प्रत्याहार' कहलाता है। इससे इन्द्रियदमन की क्षमता प्राप्त होती है।

अष्टांग योग में यहाँ तक वर्णित पहले पाँच बहिरंग हैं, जबकि धारणा, ध्यान एवं समाधि-ये तीनों अन्तरंग हैं। अत: उक्त दोनों (बहि: और अन्त:) के वर्गीकरण को भगवान् सूत्रकार ने अलग-अलग पादों में रखकर दर्शाया है। योग के बहिरंग में प्रयास की प्रधानता है, जबकि अन्तरंग में प्रवेश सहज प्रयासगम्य नहीं है। बहिरंग की साधना परिपक्व होने पर अन्तरंग में स्वत: स्थिति सम्भव है। अत: धारणा, ध्यान और समाधि-जिन्हें संयुक्तत: 'संयम' भी कहते हैं-को परोक्षत: विभूति मानना,

अतः 'विभूतिपाद' नामक तीसरे पाद में इनका प्रतिपादन करना समीचीन है। यहीं से योगाभ्यासी के सिद्ध (अर्थात् सिद्धियों से सम्पन्न) बनने का मार्ग प्रशस्त होता है। **3.1-4** में उक्त तीनों का स्वरूप बतलाया है : शरीर के भीतर अथवा बाहर-किसी एक स्थान-विशेष (ध्येय) पर चित्त को स्थिर करने का नाम 'धारणा' है, जबकि उसी की प्रत्ययैकतानता (अखण्ड प्रवाह) का नाम 'ध्यान' है। ध्यान में ध्येय से भिन्न-सभी प्रतीतियों की सर्वथा शून्यता तथा चित्त की ध्येयाकार में परिणति को 'समाधि' कहते हैं। **3.5-6** के अनुसार; संयम में लगे साधक की बुद्धि का प्रकाश होने लगता है। **3.7-16** में कहते हैं कि यद्यपि उक्त तीनों पूर्वोक्त पाँच योगांगों की अपेक्षा अन्तरंग हैं। भले ही विजातीय (ध्येय से भिन्न) चित्तवृत्तियाँ शान्त हो जाएँ, किन्तु समाधि-संज्ञक योगांग-जो वस्तुतः सम्प्रज्ञात-समाधि कहलाता है-असम्प्रज्ञात समाधि का बहिरंग ही माना जाएगा। कारण कि असम्प्रज्ञात समाधि के तुल्य इसमें ध्येयाकार वाली चित्तवृत्ति का निरोध नहीं होता। सम्प्रज्ञात-समाधि में केवल व्युत्थानदशा (अर्थात् समाधि से इतर काल) के संस्कारों का तिरोभाव तथा निरोधदशा के संस्कारों का आविर्भाव होता है।

तदनन्तर **3.17** से लेकर इस पाद की समाप्तिपर्यन्त संयमलभ्य विशिष्ट विभूतियों का प्रकाशन हुआ है। हमें प्रत्येक व्यावहारिक पदार्थ में तत्सम्बन्धी शब्द, अर्थ और ज्ञान का पारस्परिक अभेदज्ञान होता है। किन्तु संयमपूर्वक उक्त तीनों का विभाग जो कर लेता है, वह योगी समस्त प्राणियों की वाणी के अर्थों का ज्ञाता हो जाता है। संयमपूर्वक अपने अन्तःकरणगत संस्कारों का साक्षात्कार करने वाला अपने पूर्वजन्मों को जान सकता है। जबकि दूसरों के अन्तःकरण का साक्षात्कार करने पर उनके चित्त को पढ़ सकता है। अपने शरीरनिष्ठ रूपगुण में संयम कर लेने वाला योगी स्वयं को अन्तर्धान कर सकता है। अपने सोपक्रम (उपक्रमसहित; फलीभूत होने हेतु प्रवृत्त) तथा निरुपक्रम (उपक्रमरहित; फलीभूत न हुए) कर्मों में संयम करने वाला योगी अपनी मृत्यु या भावी अरिष्टों को जा सकता है। पीछे (1.33 में) वर्णित मैत्री, दया या प्रसन्नता

में संयम करने से प्राणी को क्रमशः तत्तद्विषयक सामर्थ्य प्राप्त होते हैं। विभिन्न प्राणियों के बलों में संयम करने पर तत्तद् प्राणी के तुल्य बल प्राप्त हो सकता है। अपने मन की सत्त्वगुणप्रधान अवस्था में संयम करने से इस जगत् के सूक्ष्मातिसूक्ष्म एवं दूरातिदूर स्थित अभीष्ट पदार्थों का ज्ञान हो जाता है। सर्वलोकसाक्षी सूर्य में संयम करने से समस्त लोकों का, चन्द्रमा में संयम करने से समस्त नक्षत्रमण्डल का, ध्रुव में संयम करने से सभी ताराओं की गति का तथा नाभिचक्र में संयम करने से अपने सम्पूर्ण कायव्यूह (शरीरतन्त्र) का ज्ञान हो जाता है। कण्ठकूप में संयम करने से भूख-प्यास की निवृत्ति हो जाती है, जबकि वक्षःस्थल में स्थित कूर्माकार नाडी में संयम करने से चित्त एवं शरीर की स्थिरता प्राप्त हो जाती है। ब्रह्मरन्ध्र के प्रकाश में संयम करने से सिद्धपुरुषों का दर्शन अथवा सर्वज्ञत्व प्रसक्त होने लगता है। हृदयकमल में संयम करने से चित्त के स्वरूप का सम्पूर्ण ज्ञान हो जाता है; जिसके उदित होते ही परस्पर अत्यन्त भिन्न स्वरूप वाले बुद्धि (जड) एवं पुरुष (चेतन) में अभेदबुद्धिरूप ग्रन्थि ही प्राणी के सभी सुख-दुःखरूपी भोगों की प्रयोजक है। उक्त दोनों में स्वार्थप्रतीति के विषयभूत चित् में संयम करने से योगी को पुरुष का (अर्थात् अपने स्वरूप का) ज्ञान होने लगता है।

पुरुषज्ञान के होते ही योगी में 'प्रातिभ' (त्रिकालदर्शन या सूक्ष्मातिसूक्ष्म एवं दूरातिदूरस्थ विषय का ज्ञान), 'श्रावण' (दिव्यशब्दानुभव), 'वेदन' (दिव्यस्पर्शानुभव), 'आदर्श' (दिव्यरूपानुभव), 'आस्वाद' (दिव्यरसानुभव) और 'वार्ता' (दिव्यगन्धानुभव)-ये छः सिद्धियाँ प्रकट हो जातीं हैं। हालांकि समाधि में उक्त छहों किसी विघ्न से कम नहीं है। कर्मसंस्कारों के कारण हमारा चित्त हमारे शरीर में आबद्ध रहता है। चित्त की गति (अर्थात् शरीर में आवागमन के द्वारों) का ज्ञान होते ही चित्त परकायाप्रवेश में समर्थ हो जाता है। संयमपूर्वक उदानवायु को जीत लेने पर जल-कीचड़-कण्टक-आदि योगी के शरीर में नहीं घुस पाते तथा उसकी ऊर्ध्वगति भी होती है। जबकि समानवायु को जीतने पर योगी का देह तेजस्वी होता है। श्रोत्र एवं आकाश के सम्बन्ध (एकत्व) में संयम

करने से योगी के कान दिव्य हो जाते हैं। जबकि शरीर एवं आकाश के सम्बन्ध में तथा किसी हलकी वस्तु में संयम करने से आकाशगमन का सामर्थ्य प्राप्त होता है। सामान्यतः हमलोग अपने चित्त को कल्पितरूप से (अर्थात् सोचकर) शरीर के बाहर निकालते हैं। किन्तु योगीलोग अभ्यासपूर्वक अकल्पित (वास्तविक) रूप से उसको शरीर से बाहर निकाल लेते हैं; जिससे उनकी बुद्धि की ज्ञानशक्ति का पूर्ण प्रकाश होता है।

पाँचों भूतों में स्थूल (इन्द्रियग्राह्यता), स्वरूप (लक्षणनिष्ठता), सूक्ष्म (तन्मात्ररूपता), अन्वय (त्रिगुणव्याप्तता) और अर्थवत्त्व (प्रयोजनता)-ये पाँच अवस्थाएँ होतीं हैं। इनमें संयम करने से योगी को पाँचों भूतों पर विजय प्राप्त हो जाती है। इससे योगी में अणिमा-आदि आठों सिद्धियों का प्राकट्य हो जाता है, उसको कायसम्पत् (रूप-लावण्य-बल-पुष्टि) की प्राप्ति होती है तथा वह भूतनिष्ठ स्थूलत्व-आदि धर्मों से अप्रभावित रहता है। मन एवं इन्द्रियों की ग्रहण (विषयग्रहणकालिक स्थिति), स्वरूप (स्वाभाविक स्थिति), अस्मिता (उत्पत्तिकालिक सूक्ष्म स्थिति), अन्वय (त्रिगुणव्याप्तता) और अर्थवत्त्व (प्रयोजनता) नामक पाँच अवस्थाएँ होतीं हैं; जिनमें संयम करके मन एवं इन्द्रियों पर विजय प्राप्त हो सकती है। इन्द्रियजय के तीन फल हैं : मन-जैसी गति, विकरणभाव (शरीर के बिना भी विषयग्रहण का सामर्थ्य) तथा प्रधानजय (प्रकृति का नियन्त्रण)। सबीज-समाधि में पुरुष एवं बुद्धि में केवल विवेक (स्वरूपगत भिन्नता) का ज्ञान रहता है। इसी को 'धर्ममेघ-समाधि' कहते हैं; जिसके माध्यम से योगी को सभी भावों का स्वामित्व एवं सर्वज्ञत्व प्राप्त हो जाता है। यह सम्प्रज्ञात-समाधि की सर्वोत्तम स्थिति है; जिसमें पुनः परवैराग्य हो जाने पर पुरुष का गुणों के साथ आत्यन्तिक वियोग-जो 'कैवल्य' भी कहलाता है-की प्राप्ति हो जाती है।

3.51 में भगवान् सूत्रकार सावधान करते हैं कि साधना में उत्कर्ष होने पर देवता-आदि दिव्य भोगों का लोभ देते हैं। उनमें कभी नहीं

फंसना चाहिए; अन्यथा अनिष्ट (पतन; संसारचक्र में पड़ना) सम्भव है। काल की सबसे छोटी व्यावहारिक इकाई-क्षण एवं उसके क्रम में संयम करने से विवेकख्याति उत्पन्न होती है। यह विवेकख्याति जाति-लक्षण-देश-भेद द्वारा भी सर्वथा अभिन्नवत् प्रतीत होने वाले पदार्थों में भेदबुद्धि (विवेकबुद्धि) प्रदान करती है। यह विवेकख्याति तारक (संसारसमुद्र से तारने वाली) है, सर्वविषय (सबको जानने वाली), सर्वथाविषय (सब प्रकार से जानने वाली) और अक्रम (पूर्वापर की संगति के बिना भी जानने वाली, अथवा अपरिवर्तनशील) है। पूर्वाचार्यों ने इसी ज्ञान को 'पुरुषख्याति' नाम से कहा है; जो कि परवैराग्य का हेतु माना गया है। बुद्धि एवं पुरुष का विवेक होने पर दोनों की शुद्धि होने लगती है। बुद्धि शुद्ध होकर अपने कारण में विलीन होने लगती है, जबकि पुरुष का बुद्धि से अज्ञानकृत सम्बन्ध एवं तज्जनित मल-विक्षेप-आदि वाला आवरण निराकृत होने लगता है। इसी से कैवल्य होता है।

तत्पश्चात् भगवान् सूत्रकार ग्रन्थ के 'कैवल्यपाद' संज्ञक अन्तिम भाग का उपक्रम करते हैं। कैवल्य ही इस पाद का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है, अत: यह अन्वर्थसंज्ञ है। विभिन्न संयमों के बल पर अनेक सिद्धियों की प्राप्ति होती है। **4.1-5** के अनुसार; सिद्धियों के पाँच कारण होते हैं : जन्मना, मन्त्र, औषधि, तप एवं समाधि। यथा पक्षियों को आकाशगमन की सिद्धि जन्म से ही होती है। जबकि योगी लोग तप एवं समाधि से तथा तान्त्रिक लोग मन्त्र या औषधि के प्रयोग से आकाशगमन कर लेते हैं। वस्तुत: तत्तद् सिद्धि के लिए जिस-जिस तत्त्व की आवश्यकता रहती है, योग द्वारा उसकी पूर्ति हो जाने से शरीर-इन्द्रिय-चित्त का 'जात्यन्तरपरिणाम' (अर्थात् एक जाति-योनि से दूसरी जाति में परिवर्तन) हो जाता है। औषधि-मन्त्र-आदि पूर्वोक्त कारण तो चित्त के इस जात्यन्तरपरिणाम के निमित्तकारण होते हैं, जबकि इसका उपादान तो उस साधक की अस्मिता ही होती है। भले ही वह साधना के बल पर असंख्य जात्यन्तरपरिणाम कर ले (अर्थात् अनेक शरीर-इन्द्रिय-चित्त-आदि की सृष्टि) कर ले, किन्तु उन सभी का नियामक उसका वास्तविक

चित्त ही होता है। **4.6-10** के अनुसार; जन्म-मन्त्र-आदि पूर्वोक्त पाँच कारणों से सिद्धि (शुद्धि) को प्राप्त हुए चित्त ध्यान द्वारा विशिष्ट शक्तिसम्पन्न होकर 'अनाशय' (कर्मसंस्काररहित) हो पाता है। सभी सांसारिक प्राणी-अपनी चित्तगत अनादिकालिक वासनाओं (पूर्व संस्कारों) के आधार पर एवं जाति-देश-काल का व्यवधान रहने के कारण-तीन प्रकार के कर्मों में प्रवृत्त होते हैं : (1) शुक्ल (पुण्य), (2) कृष्ण (पाप) तथा (3) शुक्लकृष्ण (पापपुण्यमिश्रित)। किन्तु कर्मसंस्कारशून्य चित्त वाले शुद्धमना योगी के कर्म अशुक्ल एवं अकृष्ण होते हैं; अर्थात् उसको न ही पुण्य का स्पर्श होता है और न ही पाप का।

4.11-14 के अनुसार; (1) हेतु = अविद्या, (2) फल = शरीर एवं चित्तगत पूर्वसंस्कार, (3) आश्रय = चित्त तथा (4) आलम्बन = वासनाओं के विषय (शब्द-आदि)-इन चार के द्वारा अग्रिम वासनाओं का संचय होता है। और यदि उक्त चारों का का अभाव हो जाए, तो वासनाओं का भी निश्चित अभाव हो जाएगा। यद्यपि ये वासनाएँ सदैव विद्यमान रहतीं हैं, अत: इनका स्वरूपत: नाश नहीं हो सकता। किन्तु शुद्धचेता योगी का इनसे सम्बन्धविच्छेद हो जाता है, इसलिए वे उसके पुनर्जन्म का कारण नहीं बन पातीं। वासनाएँ चाहें अपने सूक्ष्म (अतीत या अनागत) रूप में रहें अथवा व्यक्त (वर्तमान, फलाभिमुख) रूप में, वे सदैव त्रिगुणात्मक ही होती हैं। हालांकि गुणतारतम्य से दृश्य में भी तारतम्य की प्रतीति होती है। **4.15-17** में यह स्पष्ट किया गया है कि यद्यपि चित्त भी त्रिगुणात्मक है, तथापि त्रिगुणात्मक चित्त से त्रिगुणात्मक दृश्य के एकत्व की कल्पना नहीं करनी चाहिए। चित्त (दर्शन-साधन) एवं उसका दृश्य-ये दोनों भिन्न हैं। कारण कि दृश्यप्रपंच को यदि चित्त का विलास माना जाए, तो अनेक चित्तों के द्वारा किसी एक दृश्य का समान दर्शन कैसे सम्भव है? और फिर; दृश्य की स्थिति चित्तसापेक्ष नहीं है। अत: दृश्य वस्तु को चित्त से भिन्न एवं सत्य पदार्थ मानना चाहिए। हालांकि दृश्य का दर्शन तभी होता है, जब इन्द्रियों के माध्यम से चित्त का दृश्य से सम्बन्ध बनता है; अन्यथा नहीं।

4.18-21 से समग्र दृश्यों के द्रष्टा-पुरुष का स्वरूप प्रतिपादित हुआ है। वह अपरिणामी है तथा चित्त का प्रभु/नियामक है। इसीलिए चित्त की समस्त वृत्तियाँ उसको ज्ञात रहतीं हैं। चित्त स्वप्रकाश नहीं है, इसीलिए उसको अपने से भिन्न किसी प्रकाशक-द्रष्टा की आवश्यकता रहती है। वह अपने स्वामी-पुरुष (द्रष्टा) से ही चेतित होकर बाह्य पदार्थों (अर्थात् दृश्य) के ज्ञान को उसके समक्ष प्रस्तुत कर देता है। चित्त को ही एक-साथ दर्शन का द्रष्टा, विषय एवं साधन नहीं मान सकते। अन्यथा एक चित्त ने अन्य चित्त के माध्यम से किसी अन्य चित्त का दर्शन किया और पुन: दूसरे चित्त ने तीसरे चित्त से सम्बद्ध ज्ञान को पहले चित्त के समक्ष प्रस्तुत किया ... इस प्रकार; अनेक चित्तों में परस्पर अनवस्था दोष प्रसक्त होगा। इस क्लेश से बचने के लिए चित्त से भिन्न उसके द्रष्टा को स्वीकार करना ही श्रेयस्कर होगा।

4.22-24 में कहा गया है कि यद्यपि चित्त का द्रष्टा-पुरुष स्वरूपत: चित्त से सर्वथा विलक्षण है। वह असंग, निर्विकार एवं क्रियारहित है। वह ज्ञाता, भोक्ता नहीं है; किन्तु पीछे (2.6 में) वर्णित अस्मिता के कारण उसने अपने स्वरूप में ज्ञातृत्व की कल्पना कर रखी है। इससे वह चित्त को ही अपना स्वरूप मान बैठा है। चित्त द्रष्टा पुरुष के स्वरूपनिष्ठ धर्मों की, दृश्य के धर्मों की तथा अपने निजी धर्मों की अपने में कल्पना करने लगता है। वहीं; अस्मितावश चित्त से तदाकार हो चुका पुरुष स्वयं को वैसा ही मानने लगता है। **4.25-34** में भगवान् सूत्रकार ने 3.49-50 का अनुवाद करते हुए लिखा है कि समाधिजनित विवेकख्याति के द्वारा चित्त एवं पुरुष के भेद जान लेने पर योगी की 'आत्मभावभावना' (अर्थात् अपने वास्तविक स्वरूप की जिज्ञासा) आत्यन्तिक रूप से शान्त हो जाती है। संसारी प्राणियों का चित्त विषयोन्मुख रहता है, किन्तु विवेकख्यातिसम्पन्न योगी का चित्त संसार से उपरत होकर कैवल्योन्मुख हो जाता है। उस स्थिति में योगी को बाह्य दृश्य का दर्शन होता है, किन्तु उसके लिए वह दृश्य दग्धबीज के समान होता है। अभिप्राय : जैसे दग्ध हो चुके बीज कभी फलीभूत नहीं होते,

ठीक वैसे ही अनुभूयमान दृश्य-संसार उस योगी को पुनः संसारभाव में नहीं फंसा पाता। फिर वे दृश्य-सम्बन्धी संस्कार भी अनुभूत हो जाने के कारण क्षीण हो जाते हैं तथा वह योगी शुद्धचेता (अर्थात् शुद्ध = कर्मसंस्कारशून्य चित्त वाला) हो जाता है। उस समय योगी धर्ममेघ-समाधि में स्थित होता है; जिसकी सिद्धि द्वारा उसके क्लेश-कर्म भी समूल नष्ट हो जाते हैं। तब उसको सर्वज्ञता एवं सर्वभावस्वामित्व प्राप्त होता है; जिसमें परवैराग्य रखकर योगी अपनी सर्वज्ञता का ऐसा विकास कर लेता है, मानो सभी ज्ञेय पदार्थ उसके लिए अत्यधिक अल्प हो जाते हैं। धर्ममेघ-समाधि में पहुँचे योगी का कोई कर्तव्य शेष नहीं रहता। पुरुष को भोगापवर्ग की सिद्धि करवाने के लिए ही गुणों (प्रकृति) का बुद्धि-अहंकार-तन्मात्रा-आदि के रूप में विस्तार (परिणमन) हुआ था। किन्तु उसके भोगापवर्ग की सिद्धि हो जाने पर गुणों का कोई प्रयोजन नहीं रहता। अतः उनका परिणामक्रम (भावान्तरण-प्रक्रिया) समाप्त हो जाता है तथा सम्पूर्ण गुणप्रपंच अपने कारण में विलीन हो जाता है। इस प्रकार; पुरुष एवं प्रकृति के अविद्यामूलक संयोग का आत्यन्तिक निवारण हो जाने पर द्रष्टा अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। इसी को योगदर्शन में 'कैवल्य' अथवा चित्तवृत्तियों का आत्यन्तिक निरोध कहा है।

इस प्रकार; महर्षि पतंजलि ने अपने इस अत्यन्त अल्पकाय किन्तु गम्भीर अर्थों के प्रकाशक सूत्रग्रन्थ में वेद के उपासनाकाण्ड को उपस्थापित किया है। जिज्ञासुओं को इसके अनुशीलन एवं अभ्यास से स्वयं को कृतार्थ करना चाहिए। ध्यान रहे; इस शास्त्र में अध्ययन की अपेक्षा प्रयोग एवं अभ्यास की प्रधानता है। नारायणस्मृतिः।।

– **अंकुर नागपाल (दिल्ली)**

:: परिशिष्ट ::

पातञ्जल सेश्वरसांख्यपक्ष

॥ शं नो विष्णुः ॥

॥ श्रीगुरुभ्यो नमः ॥ श्रीनित्यनाथाय नमः ॥

'सर्वसिद्धान्तसंग्रह' नामक लघुकाय ग्रन्थ के दसवें प्रकरण में योगदर्शन का संग्रह प्रदर्शित है। कुछ-एक लोग उक्त ग्रन्थ को भगवान् आदिशंकराचार्यजी की रचना मानते हैं। कदाचित् यह किसी परवर्ती जगद्गुरु-शंकराचार्य-पदप्रतिष्ठित विद्वान् की रचना हो। तथापि मठाम्नाय के *'अहमेवेति विज्ञेयो यस्य देव इतिश्रुतेः'* इत्यादि वचनानुसार, प्रस्तुत कृति को 'जगद्गुरुश्रीशङ्कराचार्यकृत' लिखना दोषास्पद न होगा। भारतीय-परम्परा में वक्ता से अधिक वक्तृत्व का प्रामाण्य मान्य है। चूंकि इस प्रकरण को पढ़ने से हमें योगदर्शन का आरम्भिक परिचय मिल जाता है, अतः विषयानुरोध से हम इन 68 श्लोकों वाले दसवें प्रकरण को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समझते हैं। जिज्ञासुओं के मनोविनोद हेतु उसका भावानुवाद एवं संक्षिप्त विवरण लिखा जा रहा है :

अथ सेश्वरसाङ्ख्यस्य वक्ष्ये पक्षं पतञ्जलेः ।
पतञ्जलिरनन्तः स्याद्योगशास्त्रप्रवर्तकः ॥1॥

= अब पतंजलि का 'सेश्वरसांख्य-पक्ष' कहा जाता है। पतंजलि योगशास्त्र के प्रवर्तक-अनन्त हैं।

श्लोकगत पक्ष-शब्द 'मत' के अर्थ में है। महर्षि कपिल की सांख्यप्रक्रिया का निर्वाह बिना ईश्वर के भी हो जाता है। इसलिए सांख्यकारिका-आदि में ईश्वर की कोई चर्चा नहीं मिलती। किन्तु महर्षि पतंजलि अनेक पुरुषों में भी किसी एक ऐसे पुरुष का अनुमान करते

हैं; जो सभी शेष पुरुषों से विलक्षण हो। वह ईश्वर ही है। इसलिए ईश्वर की चर्चा न करने वाले सांख्यदर्शन को 'निरीश्वर-सांख्य' तथा सांख्य की समग्र प्रक्रिया को यथावत् लेकर उपासना हेतु उसमें ईश्वर की चर्चा जोड़ने वाला यह योगदर्शन 'सेश्वर-ईश्वरसहित सांख्य' कहा जाता है।

प्रस्तुत श्लोक में श्रीशंकराचार्यजी ने योगप्रवर्तक महर्षि पतंजलि को साक्षात् अनन्त (भगवान् शेष) कहा है। *'शेषोऽनन्तः'* (अमरकोश 1. 8.493) इत्यादि में भी अनन्त-शब्द शेष का पर्याय मान्य है। अतः यहाँ भी सहस्रफणा भगवान् शेष का महर्षि पतंजलि के रूप में अवतीर्ण होना लक्षित होता है। शांकर-सम्प्रदाय में एक ही पतंजलि को व्याकरण-महाभाष्य एवं योगदर्शन का प्रणेता माना गया है। यथा विद्यारण्यस्वामी अपने शंकरदिग्विजय (5.95-96) में लिखते हैं : *'दृष्ट्वा पुरा निजसहस्रमुखीम-भैषुरन्तेवसन्त इति तामपहाय शान्तः। एकाननेन भुवि यस्त्ववतीर्य शिष्यान्नन्व-ग्रहीन्ननु स एव पतञ्जलिस्त्वम्।। उरगपतिमुखादधीत्य साक्षात्स्वयमवनेर्विवरं प्रविश्य येन। प्रकटितमचलातले सयोगं जगदुपकारपरेण शब्दभाष्यम्।।'*

पञ्चविंशति-तत्त्वानि पुरुषं प्रकृतेः परम् ।
जानतो योगसिद्धिः स्याद्योगाद्दोषक्षयो भवेत् ॥2॥

पञ्चविंशति-तत्त्वानि पुरुषं प्रकृतिर्महान् ।
अहङ्कारश्च तन्मात्रा विकाराश्चापि षोडश ।
महाभूतानि चेत्येतदृषिणैव सुविस्तृतम् ॥3॥

= पच्चीस तत्त्वों और प्रकृति से परे-पुरुष को जो जान लेता है, उसको योगसिद्धि होती है तथा योग के द्वारा उसके दोषों का क्षय होता है। पुरुष, प्रकृति, महत्/बुद्धि, अहंकार, पाँच तन्मात्राएँ और सोलह विकार (अर्थात् ग्यारह इन्द्रियाँ सहित पाँच महाभूत)-ये पच्चीस तत्त्व हैं; जिन्हें महर्षि कपिल ने ही विस्तरशः कहा है।

क्षय करने योग्य दोषों का वर्णन आगे श्लोक 9 में देखें। तदतिरिक्त देखें ईश्वरकृष्णकृत सांख्यकारिका (3)।

ज्ञानमात्रेण मुक्तिः स्यादित्यालस्यस्य लक्षणम् ।
ज्ञानिनोऽपि भवत्येव दोषैर्बुद्धिभ्रमः क्वचित् ॥4॥

= उक्त तत्त्वों के ज्ञानमात्र से मुक्ति हो जाएगी, यह कहना तो आलस्य का परिचय है। कारण कि ज्ञानी को भी कभी-कभी दोषों के कारण बुद्धिभ्रम होता ही है।

सांख्यवादियों ने *'व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात्'* (सांख्यकारिका 2) कहकर केवल पच्चीस तत्त्वों के ज्ञान से ही मुक्ति की कल्पना की है। किन्तु ज्ञान के प्रतिबन्धकों का निवारण करने हेतु योगमार्ग का अवलम्बन लेना चाहिए। श्रीशंकराचार्यजी ने ईश्वर को न केवल कर्मफलदाता, अपितु ज्ञानफलदाता भी कहा है; क्योंकि ईश्वर के ही अनुग्रह से साधक के ज्ञान-प्रतिबन्धकों का निवारण होता है : *'यस्मान्मदधीनं कर्मिणां कर्मफलं ज्ञानिनां च ज्ञानफलम्'* (गीताभाष्य 15.1)। ईश्वरानुग्रह हेतु उपासना (योग) कर्तव्य है।

गुरूपदिष्टविद्यातो नष्टाविद्योऽपि पूरुषः ।
देहदर्पणदोषांस्तु योगेनैव विनाशयेत् ॥5॥

सम्यग्ज्ञातो रसो यद्वद्गुडादेर्नानुभूयते ।
पित्तज्वरयुतैस्तस्माद्दोषानेव विनाशयेत् ॥6॥

= गुरु के द्वारा उपदिष्ट विद्या के द्वारा जिसकी अविद्या नष्ट हो चुकी है, ऐसे पुरुष को भी देहरूपी दर्पण में विद्यमान दोषों का योग के द्वारा ही विनाश करना चाहिए। जैसे पित्तज्वर से युक्त रोगियों के द्वारा भली प्रकार से सेवन करने पर भी गुड-आदि का रस-मीठापन अनुभव में नहीं आता, ठीक वैसे ही उपर्युक्त [गुरूपदिष्ट सांख्यज्ञानी] पुरुष हैं; जिन्हें योग द्वारा अपने दोषों का ही विनाश करना चाहिए।

यहाँ देह-शब्द को समस्त अनात्म-प्रपंच का उपलक्षण समझना चाहिए।

गुरूपदिष्टविद्यास्य विरक्तस्य नरस्य तु ।
दोषक्षयकरस्तस्माद्योगादन्यो न विद्यते ॥7॥

= गुरु से जिसको विद्या का उपदेश मिला है, ऐसे विरक्त मनुष्य

के भी दोषों का क्षय करने वाला योग के अतिरिक्त कोई अन्य नहीं है।

ब्रह्मसूत्र (2.1.2) में पातंजलयोग के दार्शनिक पक्ष को अस्वीकृत करके भी वेदान्तियों ने योगदर्शन की उपासना-पद्धति का पूर्ण लाभ लिया है। तभी सदानन्दयति भी अपने 'वेदान्तसार' (200-208) में निर्विकल्पक समाधि के सन्दर्भ में अष्टांगयोग को प्रासंगिक मानते हैं। हालांकि निर्विशेष केवलाद्वैतवादी वेदान्तियों को अभिमत अष्टांगयोग का स्वरूप किंचित भिन्न है। 'हरिमीडेस्तोत्र' (41) पर अपनी हरितत्त्व-मुक्तावलीटीका में स्वयंप्रकाशयति ने संग्रहश्लोक लिखा है : '*देहाक्षादौ विरक्तिर्यम इह नियमः स्वात्मतत्त्वेऽनुरक्तिर्बाह्यौदासीन्यमेवासनमसुनियतस्त्व-क्षरार्थोमृषार्थात्। प्रत्याहारः स्वबुद्धेर्विषयविमुखताधारणास्वात्मनिष्ठा ध्यानं ब्रह्माहमस्मीतिदृगनन्यत्वममोहात्मसंवित्समाधिः।।*' इसकी व्याख्या प्रासंगिक नहीं है।

अविद्योपात्तकर्तृत्वात्कामात्कर्माणि कुर्वते ।
ततः कर्मविपाकेन जात्यायुर्भोगसम्भवः ।।8।।

= अविद्यामूलक कर्तृत्वबुद्धि एवं इच्छाओं के द्वारा कर्म किए जाते हैं और उन्हीं कर्मों के विपाक (परिणाम) से जाति, आयु और भोगों की प्राप्ति होती है।

देखें योगदर्शन (2.12-14)।

पञ्चक्लेशास्त्वविद्या च रागद्वेषौ तदुद्भवौ ।
अस्मिताभिनिवेशौ च तत्राविद्यैव कारणम् ।।9।।

= अविद्या, राग, द्वेष तथा उक्त दोनों से होने वाले अस्मिता एवं अभिनिवेश-ये पाँच क्लेश हैं; जिनका मूलकारण अविद्या ही है।

देखें योगदर्शन (2.3-11)।

आत्मबुद्धिरविद्या स्यादनात्मनि कलेवरे ।
पञ्चभूतात्मको देहो देही त्वात्मा ततोऽपरः ।। 10।।

= अनात्मभूत देह-आदि में आत्मबुद्धि रखना ही अविद्या है। देह

पाँच भूतों से बना है, जबकि देही-आत्मा तो उससे अपर-विलक्षण है।

तज्जन्यपुत्रपौत्रादिसन्तानेऽपि ममत्वधीः ।
अविद्या देहभोग्ये वा गृहक्षेत्रादिके तथा ॥11॥

नष्टाविद्योऽथ तन्मूलरागद्वेषविवर्जितः ।
मुक्तये योगमभ्यस्येदिहामुत्रफलास्पृहः ॥12॥

= देह से जन्म लेने वाले पुत्र-पौत्र-आदि सन्तानों में अथवा देह के द्वारा भोगने-योग्य गृह-क्षेत्र-आदि में ममत्वबुद्धि ही अविद्या है। जिसकी अविद्या नष्ट हो गई है, वह अविद्यामूलक राग और द्वेष से भी रहित हो जाता है। अतः मुक्ति के लिए योगाभ्यास करके इह (इस लोक) एवं अमुत्र (परलोक) के फलों में अस्पृह (अनासक्त) हो जाना चाहिए।

चित्तवृत्तिनिरोधे स्याद्योगः स्वस्मिन् व्यवस्थितिः ।
वृत्तयो नात्र वर्ण्यन्ते क्लिष्टाक्लिष्टविभेदिताः ॥13॥

= योग का अर्थ है : चित्तवृत्ति का निरोध होने पर अपने स्वरूप में व्यवस्थिति होना। वृत्तियों का अधिक वर्णन न करके केवल उन्हें क्लिष्ट एवं अक्लिष्ट-इन भेदों वाला ही बतलाते हैं।

चूंकि श्रीशंकराचार्य यहाँ अपनी वेदान्त-परम्परा के शिक्षणार्थ पूर्वपक्ष का संग्रह कर रहे हैं, इसलिए यहाँ-विस्तार न करते हुए-केवल प्रासंगिक तथ्यों को ही रखा जा रहा है। यद्यपि योगदर्शन (1.6-11) में प्रमाण, विपर्यय, निद्रा, विकल्प एवं स्मृति नामक पाँच वृत्तियों की चर्चा है; तथापि यहाँ ग्रन्थकार ने केवल योगदर्शन (1.2-5) के तात्पर्य को संगृहीत किया है। चित्त के परिणाम को 'वृत्ति' कहते हैं। उपर्युक्त पाँचों में से जो वृत्ति हमें अन्तर्मुखी (आत्मोन्मुखी) करती है, वह 'अक्लिष्ट वृत्ति' कहलाती है। जबकि जो हमें बहिर्मुखी बनाकर अनात्मप्रपंच में फंसाती है, उसको 'क्लिष्ट वृत्ति' कहते हैं।

क्रियायोगं प्रकुर्वीत साक्षाद्योगप्रवर्तकम् ।
क्रियायोगस्तपो मन्त्रजपो भक्तिर्दृढेश्वरे ॥14॥

= क्रियायोग का अनुष्ठान करना चाहिए; जो साक्षात् योग (चित्तवृत्ति के निरोध) का प्रवर्तक है। यहाँ क्रियायोग का अर्थ है : तप, मन्त्रजप एवं ईश्वर में दृढ़ भक्ति।

देखें योगदर्शन (2.1)। यही क्रियायोग-शब्द श्रीगुरुबाबाजी (महावतार-बाबाजी; श्रीलाहिडीमहाशय के गुरु) की क्रियापरम्परा का मूल है।

क्लेशकर्मविपाकादिशून्यः सर्वज्ञ ईश्वरः ।
स कालेनानवच्छेदाद् ब्रह्मादीनां गुरुर्मतः ॥15॥

तद्वाचकः स्यात्प्रणवस्तज्जपो वाच्यभावनम् ।
योगान्तरायनाशः स्यात्तेन प्रत्यङ्मनो भवेत् ॥16॥

= ईश्वर क्लेश-कर्मविपाक-आदि से शून्य सर्वज्ञ है; जो काल के द्वारा प्रभावित न होने वाला तथा ब्रह्मा-आदि का भी गुरु कहा गया है। प्रणव (ॐ) उस ईश्वर का वाचक है तथा उस (प्रणव) के जप का अर्थ है: वाच्य (ईश्वर) की भावना करना। इसके द्वारा योग में आने वाले विघ्नों का नाश होता है और मन अन्तर्मुखी होता है।

देखें योगदर्शन (1.24-30)।

आलस्यं व्याधयस्तीव्राः प्रमादस्त्यानसंशयः ।
अनवस्थितचित्तत्वमश्रद्धा भ्रान्तिदर्शनम् ॥17॥

दुःखानि दौर्मनस्यं च विषयेषु च लोलता ।
श्वासप्रश्वासदोषौ च देहकम्पो निरङ्कुशः ।
इत्येवमादयो दोषा योगविघ्नाः स्वभावतः ॥18॥

ईश्वरप्रणिधानेन तस्माद्विघ्नान् विनाशयेत् ।

= आलस्य, तीव्र व्याधियाँ, प्रमाद, दृढ संशय, चित्त की अनवस्थिति (भटकाव), अश्रद्धा, भ्रान्ति होना, द्वे दुःख, विषयलोलुपता,

श्वास-प्रश्वास के दोष, देह में कम्पन, निरंकुशता इत्यादि स्वभाव से योग में विघ्न करने वाले दोष हैं। इसलिए ईश्वरप्रणिधान (ईश्वर के प्रति शरणागति) के द्वारा उक्त विघ्नों का विनाश करें।

देखें योगदर्शन (1.30-32)।

मैत्र्यादिभिर्मनःशुद्धिं कुर्याद्योगस्य साधनम् ॥19॥

मैत्रीं कुर्यात्सुधीलोके करुणां दुःखिते जने ।
धर्मेऽनुमोदनं कुर्यादुपेक्षां एव पापिनाम् ॥20॥

भगवत्क्षेत्रसेवा च सज्जनस्य च सङ्गतिः ।
भगवच्चरिताभ्यासो भावना प्रत्यगात्मनः ॥21॥

इत्येवमादिभिर्यत्नैः संशुद्धं योगिनो मनः ।

= मैत्री-आदि के द्वारा मन की शुद्धि करना योग का साधन (सहायक) है। अतः बुद्धिमान् लोगों के साथ मैत्री रखना, दुःखी लोगों पर करुणा करना, धर्म का अनुमोदन करना, पापियों की उपेक्षा करना, भगवान् के क्षेत्रों (तीर्थ-देवालय-आदि) की सेवा करना, सज्जन की संगति करना, भगवच्चरित्र का अभ्यास (श्रवण-मनन) करना तथा प्रत्यगात्मा की भावना करना इत्यादि साधनों को यत्नपूर्वक करने पर योगियों का मन शुद्ध होता है।

देखें योगदर्शन (1.33)।

शक्तं स्यादतिसूक्ष्माणां महतामपि भावने ॥22॥

योगाङ्गकारणाद्दोषे नष्टे ज्ञानप्रकाशनम् ।

= इस (मनःशुद्धि) से अत्यन्त सूक्ष्म एवं अतीव महान् पदार्थों की भावना (मानसिक स्फुरणा) हो जाती है। योग के अंगों का अभ्यास करने से दोषों के नष्ट हो जाने पर ज्ञान का प्रकाश होता है।

अष्टावङ्गानि योगस्य यमोऽथ नियमस्तथा ॥23॥

आसनं पवनायामः प्रत्याहारोऽथ धारणा ।
ध्यानं समाधिरित्येवं तानि विस्तरतो यथा ॥24॥

= योग के आठ अंग हैं : यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान एवं समाधि। अब इन सभी को विस्तरशः कहते हैं।

देहगत पवन/वायु को ही प्राण कहते हैं। अतः यहां प्राणायाम के स्थान पर पवनायाम-शब्द का प्रयोग हुआ है। योगदर्शन (2.29) में जाबालदर्शनोपनिषद् (1.4-5) के आधार पर अष्टांगयोग की संकल्पना है। जबकि कहीं-कहीं षडंग योग भी प्रसिद्ध है : *'प्राणायामस्तथा ध्यानं प्रत्याहारोऽथ धारणा। तर्कश्चैत्र समाधिश्च षड्गो या योग उच्यते।।'*

अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यापरिग्रहौ ।
यमाः पञ्च भवन्त्येते जात्याद्यनुगुणा मताः ॥25॥

नियमाः शौचसन्तोषतपोमन्त्रेशसेवनाः ।

= अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह-ये पाँच यम हैं; जो कि जाति के अनुगुणित होते हैं। शौच, सन्तोष, तप, मन्त्र तथा ईशसेवन (ईश्वरप्रणिधान)-ये पाँच नियम हैं।

देखें योगदर्शन (2.30-32), शाण्डिल्योपनिषद् (1.1-2)।

यमस्य नियमस्यापि सिद्धौ वक्ष्ये फलानि च ॥26॥

अहिंसायाः फलं तस्य सन्निधौ वैरवर्जनम् ।
सत्यादमोघवाक्त्वं स्यादस्तेयाद्रत्नसङ्गतिः ॥27॥

ब्रह्मचर्याद् वीर्यलाभो जन्मधीरपरिग्रहात् ।
शौचात्स्वाङ्गेऽजुगुप्सा स्याद्दुर्जनस्पर्शवर्जनम् ॥28॥

= अब यम और नियम की सिद्धि हो जाने पर होने वाले फलों (प्रभावों) को कहते हैं। अहिंसा का फल है : उस (योगी) की सन्निधि में वैर का वर्जन (त्याग)। सत्य से अमोघ वाक् (अर्थात् वाक्सिद्धि; जो बोले वह सत्य हो जाए) होता है तथा अस्तेय से

रत्नसंगति (अर्थात् सभी प्रकार के दुर्लभ रत्नों-ऐश्वर्यों की प्राप्ति) होती है। ब्रह्मचर्य से वीर्य (पराक्रम) का लाभ होता है तथा अपरिग्रह से जन्मबुद्धि (पूर्वजन्मों की स्मृति) प्राप्त होती है। शौच से अपने शरीर में अजुगुप्सा (अर्थात् पवित्रता का संचार; मल-मूल-स्वेद-आदि में दुर्गन्ध का नाश) होता है तथा दुर्जन का स्पर्श भी वर्जित हो जाता है।

देखें योगदर्शन (2.35-40)।

सत्त्वशुद्धिः सौमनस्यमेकात्मेन्द्रियवश्यते ।
आत्मदर्शनयोग्यत्वं मनःशौचफलं भवेत् ॥29॥

अनुत्तमसुखावाप्तिः सन्तोषाद्योगिनो भवेत् ।
इन्द्रियाणां तु कायस्य सिद्धिः स्यात्तपसः फलम् ॥30॥

इन्द्रियस्य तु सिद्ध्या स्याद्दूरालोकादिसम्भवः ।
कायसिद्ध्याऽणिमादि स्यात्तस्य दिव्यशरीरिणः ॥31॥

जपेन देवताकर्षः समाधिस्त्वीशसेवया ।

= मानसिक शौच (पवित्रता) का फल है : चित्त की शुद्धि, सौमनस्य (सद्भाव), मन एवं इन्द्रियों का वश में होना तथा आत्मदर्शन की योग्यता। सन्तोष के द्वारा योगी को सर्वोत्तम सुख की प्राप्ति होती है। जबकि तप का फल है : इन्द्रियों एवं काय (शरीर) की सिद्धि हो जाना। इन्द्रियों की सिद्धि द्वारा दूर तक देख सकने की सिद्धि हो जाती है, जबकि कायसिद्धि के द्वारा उस दिव्यशरीरी योगी को अणिमा-आदि सिद्धियाँ प्राप्त हो जातीं हैं। जप के द्वारा देवता का आकर्षण होता है तथा ईशसेवा के द्वारा समाधि लग जाती है।

देखें योगदर्शन (2.41-45)।

आसनं स्यात्स्थिरसुखं द्वन्द्वनाशस्ततो भवेत् ॥32॥

पद्मभद्रमयूराख्यैर्वीरस्वस्तिककुक्कुटैः ।
आसनैर्योगशास्त्रोक्तैरासितव्यं च योगिभिः ॥33॥

= सुखपूर्वक स्थिर होकर बैठना ही आसन है; उससे द्वन्द्वों का नाश हो जाता है। योगियों को योगशास्त्रों में बताए गए पद्म, भद्र, मयूर, वीर, स्वस्तिक, कुक्कुट आदि आसनों में बैठना चाहिए।

देखें योगदर्शन (2.46–47), शिवसंहिता (3.100–119)।

प्राणापाननिरोधः स्यात्प्राणायामस्त्रिधा हि सः ।
कर्तव्यो योगिनो तेन रेचपूरककुम्भकैः ॥34॥

रेचनाद्रेचको वायोः पूरणात्पूरको भवेत् ।
सम्पूर्णकुम्भवत् स्थानादचलः स तु कुम्भकः ॥35॥

= प्राण एवं अपान वायु का निरोध प्राणायाम कहलाता है। योगियों को रेचक, पूरक एवं कुम्भक-इन तीन प्रकारों वाला प्राणायाम करना चाहिए। वायु को छोड़ने वाला प्राणायाम 'रेचक' तथा शरीर में भरने वाला 'पूरक' कहलाता है। किसी भरे हुए घड़े के समान अपने स्थान पर अचल प्राणायाम 'कुम्भक' कहलाता है।

देखें योगदर्शन (2.49), जाबालदर्शनोपनिषद् (6.1–9)।

प्राणायामश्चतुर्थः स्याद्रेचपूरककुम्भकान् ।
हित्वा निजस्थितिर्वायोरविद्यापापनाशिनी ॥36॥

= रेचक, पूरक और कुम्भक : इन तीन के अतिरिक्त-चौथा प्राणायाम वह होता है : वायु की अपनी-नैसर्गिक स्थिति; जो कि अविद्या और पाप का नाश करने वाली है।

इन्द्रियाणां च चरतां विषयेभ्यो निवर्तनम् ।
प्रत्याहारो भवेत्तस्य फलमिन्द्रियवश्यता ॥37॥

= व्यवहार में प्रवृत्त इन्द्रियों को विषयों से निवृत्त करना (अर्थात् घुमा लेना) 'प्रत्याहार' कहलाता है। उसका फल है : इन्द्रियों का अपने वश में होना।

देखें योगदर्शन (2.54–55)।

चित्तस्य देशबन्धः स्याद्धारणा द्विविधा हि सा ।
देशबाह्यान्तरत्वेन बाह्यः स्यात् प्रतिमादिकः ॥38॥

देशाभ्यन्तरो ज्ञेयो नाभिचक्रहृदादिकः ।
चित्तस्य बन्धनं तत्र वृत्तिरेव न चापरम् ॥39॥

= चित्त का किसी देश (ध्येय) पर टिक जाना धारणा है; जो कि बाह्य एवं भीतर देशों के आधार पर दो प्रकार की होती है। प्रतिमा-आदि अपने शरीर से अन्य वस्तुएँ बाह्य-देश कहलातीं हैं। जबकि शरीर में स्थित नाभि (स्वाधिष्ठान), हृदय (मणिपूर) आदि चक्रों को अभ्यन्तर-देश कहते हैं। चित्त का बन्धन उक्त देश में करने का तात्पर्य है : वहीं अपनी चित्तवृत्ति को ले जाना; अन्यत्र कहीं नहीं।

देखें योगदर्शन (3.1)। प्रकारान्तर से शाण्डिल्योपनिषद् (1.9) में धारणा के तीन भेद कहे गए हैं; जो कि वहीं द्रष्टव्य है। उसी को आधार लेकर हठयोग के ग्रन्थों में देहगत चक्रों की धारणा प्रवृत्त हुई है।

नाभिचक्रादिदेशेषु प्रत्ययस्यैकतानता ।
ध्यानं समाधिस्तत्रैव त्वात्मनः शून्यवत्स्थितिः ॥40॥

= नाभिचक्र-आदि देशों में प्रत्यय की एकतानता होना 'ध्यान' कहलाता है, जबकि वहीं आत्मा की शून्यवत् स्थिति को 'समाधि' कहते हैं।

देखें योगदर्शन (3.2-3)।

धारणादित्रये त्वेकविषये पारिभाषिकी ।
सञ्ज्ञा संयम इत्येषा त्रयोच्चारणलाघवात् ॥41॥

योगिनः संयमजयात् प्रज्ञालोकः प्रवर्तते ।
संयमस्य तु कर्तव्यो विनियोगोऽत्र भूमिषु ॥42॥

= धारणा-आदि तीन विषयों के आपाततः एक-जैसा लगने से, उक्त तीनों की बजाय एक बोलने के लिए, उनकी 'संयम' संज्ञा कही गई है। संयम की प्राप्ति हो जाने पर योगी में प्रज्ञा का आलोक (विकास) होता है। अतः संयम करना चाहिए। उक्त भूमियों-योगांगों में स्वयं का विनियोग करना चाहिए।

देखें योगदर्शन (3.4-6)।

पञ्चभ्योऽपि यमादिभ्यो धारणादित्रयं भवेत् ।
अन्तरङ्गं हि निर्बीजसमाधिः स्यात्ततः परम् ॥43॥

= यम-आदि पाँच (बहिरंगों) के द्वारा धारणा-आदि तीन अन्तरंग प्राप्त होते हैं; जिनके द्वारा उक्त सभी से श्रेष्ठ निर्बीज समाधि प्राप्त होती है।

देखें योगदर्शन (3.7-8)।

अजित्वा त्वपरां भूमिं नारोहेद्भूमिं उत्तराम् ।
अजित्वारोहणे भूमेर्योगिनः स्युरुपद्रवाः ॥44॥

हिक्काश्वासप्रतिश्यायकर्णदन्ताक्षिवेदनाः ।
मूकताजडताकासशिरोरोगज्वरास्त्विति ॥45॥

यस्येश्वरप्रसादेन योगो भवति तस्य तु ।
न रोगाः सम्भवत्येते येऽधरोत्तरभूमिजाः ॥46॥

= पिछली भूमि (अंग) को पार किए बिना अग्रिम भूमि में नहीं आना चाहिए। कारण कि पिछली भूमि को पार किए बिना अग्रिम भूमि में आने पर योगी को हिचकी, श्वास या प्रतिश्याय (जुकाम), कान-दाँत-आँख में पीड़ा, गूँगापन, पागलपन, कासरोग (खाँसी), सिर से सम्बद्ध रोग या ज्वर आदि उपद्रव होंगे। ईश्वर के प्रसाद से जिसका योग सधता है, उसको कभी नीचे से ऊपर की भूमि से आने वाले ये रोग नहीं होते।

एक एवाखिलो धर्मो बाल्यकौमारयौवनैः ।
वार्धकेन तु कालेन परिणामाद्विनश्यति ॥47॥

= बाल्य, कौमार और यौवन-इन सभी अवस्थाओं का एक ही स्वभाव है कि बढ़ती आयु और काल के द्वारा ये परिणमित होकर अन्ततः विनष्ट हो जातीं हैं।

पराग्भूतस्य यातीडापिङ्गलाभ्यामहर्निशम् ।
कालस्तं शमयेत्प्रत्यगभियातः सुषुम्णया ॥48॥

= पराग् (बहिर्मुखी) प्राणी का काल (आयु) इडा और पिंगला से सदा निकलता रहता है, जबकि प्रत्यग् (अन्तर्मुखी) प्राणी का काल सुषुम्ना के द्वारा निकलकर उसको क्षीण करता है।

मुक्तिमार्गः सुषुम्णा स्यात्कालस्तत्र हि वञ्चितः ।
चन्द्रादित्यात्मकः कालस्तयोर्मार्गद्वयं स्फुटम् ॥49॥

= सुषुम्ना ही मुक्ति का मार्ग है; क्योंकि वहाँ काल भी ठगा जाता है। काल सूर्यचन्द्ररूप (अर्थात् दिन-रात में विभक्त) है, इसलिए उक्त दोनों के दो मार्ग कहे गए हैं।

क्षीरात्समुद्धृतं त्वाज्यं न पुनः क्षीरतां व्रजेत् ।
पृथक्कृतो गुणेभ्यस्तु भूयो नाऽऽत्मा गुणी भवेत् ॥50॥

यथा नीता रसेन्द्रेण धातवः शातकुम्भताम् ।
पुनरावृत्तये न स्युस्तद्वदात्माऽपि योगिनाम् ॥51॥

= जैसे दूध से निकाला गया घी पुनः दूध नहीं बन सकता, ठीक वैसे ही [प्रकृति के] गुणों से पृथक् हुआ निर्गुण आत्मा पुनः गुणयुक्त नहीं होता। जैसे पारस पत्थर के स्पर्श से धातुएँ स्वर्ण बनकर पुनः अपने पूर्व रूप को प्राप्त नहीं होतीं, ठीक वैसे ही योगियों का आत्मा पुनः संसारभाव (जन्म-मृत्यु की शृंखला) में नहीं आता।

नाडीचक्रगतिर्ज्ञेया योगमभ्यस्यतां सदा ।
सुषुम्णा मध्यवंशास्थिद्वारेण तु शिरोगता ॥52॥

= योग का अभ्यास करने वालों को नाडीचक्र की गति जाननी चाहिए। मध्यवंशास्थि (मेरुदण्ड, रीढ़ की हड्डी) के द्वार से सुषुम्ना शिर की ओर जाती है।

वक्ष्यमाण नाडीचक्र का विवरण योगशिखोपनिषद् (5.16-27) में देखें। उसी का संग्रह यहां हुआ है। साथ ही देखें जाबालदर्शनोपनिषद् (4.5-39)।

इडा च पिङ्गला घ्राणप्रदेशे सव्यदक्षिणे ।
इडा चन्द्रस्य मार्गः स्यात्पिङ्गला तु रवेस्तथा ॥53॥

= इडा और पिंगला क्रमशः बाईं एवं दाहिनी नासिकाओं में रहती हैं। इडा चन्द्र का तथा पिंगला सूर्य का मार्ग है।

कुहूरधोगता लिङ्गं वृषणं पायुमप्यसौ ।
विश्वोदरा धारणा च सव्येतरकरी क्रमात् ॥54॥

= कुहू नामक नाडी नीचे की ओर लिंग, वृषण एवं पायु में विद्यमान है। जबकि विश्वोदरा और धारणा नामक दो नाडियाँ क्रमशः बाएँ एवं दाहिने हाथों में विद्यमान हैं।

सव्येतराङ्गी विज्ञेयौ हस्तिजिह्वा यशस्विनी ।
सरस्वती तु जिह्वा स्यात्सुषुम्नापृष्ठनिर्गता ॥55॥

= बाएँ एवं दाहिने अंगों में क्रमशः हस्तिजिह्वा एवं यशस्विनी नामक नाडियाँ हैं। जबकि जिह्वा में सरस्वती नामक नाडी है; जो सुषुम्ना के पृष्ठभाग से निकलती है।

तत्पार्श्वयोः स्थितौ कर्णौ शङ्खिनी च पयस्विनी ।
गान्धारी सव्यनेत्रं स्यान्नेत्रं पूषा च दक्षिणम् ॥56॥

= उसी के पास-दोनों कानों में शंखिनी और पयस्विनी स्थित हैं। जबकि बाएँ नेत्र में गान्धारी तथा दाहिने नेत्र में पूषा नामक नाडियाँ हैं।

ज्ञानकर्मेन्द्रियाणि स्युर्नाड्यः कण्ठाद्विनिःसृताः ।
नाड्यो हि योगिनां ज्ञेयाः शिरा एव न चापराः ॥57॥

= ज्ञानेन्द्रियों एवं कर्मेन्द्रियों को जाने वाली नाडियाँ कण्ठ से निकलतीं हैं। शरीर में प्रवाहित रक्तशिराओं को ही योगी नाडी समझें; अन्य किसी को नहीं।

प्राणादिवायुसञ्चारो नाडीष्वेव यथा तथा ।
ज्ञातव्यो योगशास्त्रेषु तद्व्यापारश्च दृश्यताम् ॥58॥

= प्राण-आदि दसों वायुओं का संचार इन्हीं नाडियों में जैसे-तैसे होता है; जिनका विवरण-व्यापार-आदि योगशास्त्र के ग्रन्थों में जानने योग्य है, अतः वहीं देखना चाहिए।

योगी तु संयमस्थाने संयमात्सर्वविद्भवेत् ।
पूर्वजातिपरिज्ञानं संस्कारे संयमाद्भवेत् ॥59॥

= संयम में स्थित हो जाने पर योगी उसी संयम से सर्वज्ञ बन जाता है। संयम का संस्कार (दृढ अभ्यास) हो जाने पर पूर्वजन्मों का ज्ञान हो जाता है।

श्लोक 59-63 हेतु देखें योगदर्शन (3.18-19, 23-34) तथा शाण्डिल्योपनिषद् (1.7)।

हस्त्यादीनां बलानि स्युर्हस्त्यादिस्थानसंयमात् ।
मैत्र्यादि लभते योगी मैत्र्यादिस्थानसंयमात् ॥60॥

चन्द्रे स्यात्संयमात्तस्य तारकाव्यूहवेदनम् ।
ध्रुवे तद्गतिविज्ञानं सूर्ये स्याद्भुवनेषु धीः ॥61॥

= हाथी-आदि स्थानों में संयम द्वारा हाथी-आदि का बल प्राप्त हो सकता है। मैत्री-आदि स्थानों में संयम करके योगी मैत्री-आदि का लाभ करता है। चन्द्रमा में संयम करके उसको तारासमूहों का ज्ञान हो सकता है, जबकि ध्रुव में संयम करके उसकी गति का विज्ञान तथा सूर्य में संयम करके सभी लोकों का ज्ञान प्राप्त हो सकता है।

कायव्यूहपरिज्ञानं नाभिचक्रे तु संयमात् ।
क्षुत्पिपासानिवृत्तिः स्यात्कण्ठकूपे तु संयमात् ॥62॥

कूर्मनाड्यां भवेत्स्थैर्यं ऊर्ध्वज्योतिषि सिद्धधीः ।
जिह्वाग्रे रससंवित्स्यान्नासाग्रे गन्धवेदनम् ॥63॥

= नाभिचक्र में संयम करने से कायव्यूह का परिज्ञान होता है, जबकि कण्ठकूप में संयम करने से क्षुधा एवं पिपासा की निवृत्ति हो जाती है। कूर्मनाडी में संयम करने से स्थैर्य, ऊर्ध्वज्योति में संयम करने से सिद्धबुद्धि (सत्यसंकल्पता), जिह्वाग्र में संयम करने से

रसज्ञान तथा नासिका के अग्रभाग में संयम करने से गन्धज्ञान प्राप्त होता है।

अभ्यासादनिशं तस्माद्देहकान्तिः शुभाकृतिः ।
क्षुधादिविनिवृत्तिश्च जायते वत्सरार्धतः ॥64॥

संवत्सरेण विविधा जायन्ते योगसिद्धयः ।
यथेष्टचरितं ज्ञानमतीताद्यर्थगोचरम् ॥65॥

स्वदेहेन्द्रियसंशुद्धिर्जरामरणसङ्क्षयः ।
वैराग्येण निवृत्तिः स्यात्संसारे योगिनोऽचिरात् ॥66॥

= केवल छः मास तक नित्य योगाभ्यास करने से देह में कान्ति, सुन्दर आकृति, क्षुधा-आदि की निवृत्ति होती है। जबकि एक वर्ष तक योगाभ्यास करने से विविध योगसिद्धियाँ आविर्भूत हो जातीं हैं। यथेष्ट योगाभ्यास करने पर अतीत-आदि तीनों कालों के विषयों का ज्ञान हो जाता है। अपने देह-इन्द्रियों की सम्यक् शुद्धि तथा जरा एवं मृत्यु का सम्पूर्ण क्षय हो जाता है। योगी को शीघ्र ही वैराग्य के कारण इस संसार में निवृत्ति प्राप्त हो जाती है।

देखें योगदर्शन (3.45-50) एवं जाबालदर्शनोपनिषद् (6.10-12)।

अणिमाद्यष्टकं तस्य योगसिद्धस्य जायते ।
तेन मुक्तिविरोधो न शिवस्येव यथा तथा ॥67॥

अणिमा लघिमा चैव महिमा प्राप्तिरीशिता ।
प्राकाम्यं च गुरुत्वं च वशित्वं यत्र कामदम् ॥68॥

= उस योगसिद्ध साधक को अणिमा-आदि आठ योगसिद्धियाँ प्राप्त हो जातीं हैं। शिव के ही समान मुक्ति से उन आठ सिद्धियों का कोई विरोध नहीं है। अणिमा, लघिमा, महिमा, प्राप्ति, ईशिता, प्राकाम्य, गुरुत्व (गरिमा) और वशित्व-कामनाओं को देने वालीं ये आठ सिद्धियाँ कहीं गईं हैं।

यह श्लोक समस्त विभूतिपाद का सारसंग्रह है। यहाँ आठ सिद्धियों (अर्थात् अलौकिक क्षमताओं) का उल्लेख हुआ है: 1. अणिमा

= अपने शरीर को अणुमात्र करने की क्षमता, 2. लघिमा = अपने शरीर को भाररहित करने की क्षमता, 3. महिमा = अपने शरीर को अत्यन्त भारी करने की क्षमता, 4. प्राप्ति = निर्विघ्नतया कहीं भी पहुँच सकने की क्षमता, 5. ईशिता = जगत् के किसी भी पदार्थ को नियन्त्रित करने की क्षमता, 6. प्राकाम्य = अपनी प्रत्येक इच्छा को पूर्ण करने की क्षमता, 7. गरिमा = शरीर को अत्यन्त भारी बनाने की क्षमता तथा 8. वशित्व = अभीष्ट प्राणी को वश में करने की क्षमता। 'सर्वसिद्धान्तसंग्रह' की पं. सूर्यनारायणशुक्लजी द्वारा सम्पादित प्रति के *'...महिमा प्राप्तिरीशिता। प्राकाम्यं च तथेशित्वम्...'* इत्यादि पाठ में ईशिता-सिद्धि की पुनरुक्ति तथा गरिमा-सिद्धि की अप्राप्ति है। अतः हमें वह पाठ समीचीन नहीं लगता। हम अमरकोशसम्मत आठ सिद्धियों की गणना को पूर्ण करने हेतु *'प्राकाम्यं च तथेशित्वम्'* को *'प्राकाम्यं च गुरुत्वं च'* लिखने का दुःसाहस कर रहे हैं, तदर्थ सहृदय विद्वज्जन हमें क्षमा करें। नारायणस्मृतिः।।

।। इतीदं जगद्गुरुश्रीमच्छङ्कराचार्यकृते सर्वसिद्धान्तसङ्ग्रहे पातञ्जलसेश्वरसाङ्ख्यपक्षो नाम दशमं प्रकरणं समाप्तम् ।।

- व्याख्याता : अंकुर नागपाल (दिल्ली)

डॉ. रमेश कुमार

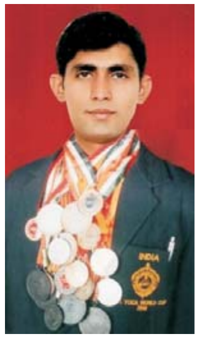

यौगिक व्यक्तित्व एवं कृतित्व के धनी डॉ. रमेश कुमार समसामयिक योगजगत् की एक सुप्रसिद्ध पहचान हैं। आप विभिन्न विश्वविद्यालयों से योग, संस्कृत, शिक्षा तथा हिन्दी आदि अनेक विषयों में परास्नातक (एम.ए.) शिक्षा शास्त्री (बी.एड.) और योग व संस्कृत मे नेट तथा 'विद्यावारिधि' (पी.एच्.डी.) उपाधि से अलंकृत योग की अप्रतिम प्रतिभा से सम्पन्न हैं।

आपका जन्म गाँव बिरड़, जिला झज्जर, हरियाणा मे यदुकुल शिरोमणि, तपोमूर्ति पिता श्री लाला राम व ममत्व की देवी श्रीमती चमेली देवी के घर मे 10 दिसंबर 1981 को हुआ, प्रारम्भिक शिक्षा गाँव की राजकीय प्राथमिक पाठशाला से हुई। उसके बाद की शिक्षा ज्ञान-विज्ञान व योगमय गुरुकुलीय वातावरण में सम्पन्न हुई।

डॉ. रमेश कुमार ने सन् 2000 व 2003 में पुर्तगाल, यूरोप में जाकर ओलंपिक योगा स्पोर्ट्सकप में स्वर्ण पदक और "विश्व योग चौम्पियन" का अलंकरण प्राप्त किया तथा विश्व पटल पर भारत का गौरव बढ़ाया। आपके द्वारा अनेक पुस्तकें एवं विभिन्न शोधपत्र प्रकाशित हैं। अनेक संस्थाओं के द्वारा आपको सम्मान प्रदान किया गया हैं। वर्तमान समय में आप श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय [केन्द्रीय विश्वविद्यालय] नई दिल्ली के योग विज्ञान विभाग में सहायक आचार्य पद पर सेवारत हैं।

ग्रन्थ परिचय

प्रस्तुत ग्रन्थ "योग का महत्त्व एवं सिद्धान्त" में वैदिक साहित्य से लेकर आधुनिक काल पर्यन्त योग के विकास की परम्परा का विवरणात्मक चित्र खींचने का एक प्रयास किया गया है। योग के स्नातक एवं स्नातकोत्तर, नेट और पीएचडी तथा अन्य योगप्रेमी अध्येताओं के लिए समान रूप से उपयोगी है। इस ग्रन्थ में पाँच अध्याय हैं इसके प्रथम अध्याय में योग के विकास का परिचय तथा इसके अङ्गों की अवधारणा का ससन्दर्भ परिचय दिया गया है। द्वितीय अध्याय में योगाभ्यास के लिए उपयोगी नियमों का संकलन किया गया है। तृतीय अध्याय में योग के क्षेत्र में विकसित विभिन्न महत्वपूर्ण योग पद्धतियों का परिचय दिया गया है। इनमें राजयोग, हठयोग, भक्तियोग, क्रियायोग एवं संन्यासयोग आदि का साङ्गोपाङ्ग विवेचन किया गया है। चतुर्थ अध्याय में पातञ्जल योग के सिद्धान्तों एवं अवधारणाओं का व्यापक विश्लेषण सरल भाषा में किया गया है। पंचम अध्याय में आधुनिक काल में योग के क्षेत्र में व्यापक कार्य करके इसे समृद्ध करने वाले योगियों और उनके कार्यो का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। आशा है यह ग्रन्थ सभी अध्येताओं की ज्ञान पिपासा को शान्त करने में सहायक सिद्ध होगा।